जापान यात्री

रबीन्द्रनाथ टैगोर

लेखक—स्व० रवीन्द्रनाथ ठाकुर

मूल्य २।)
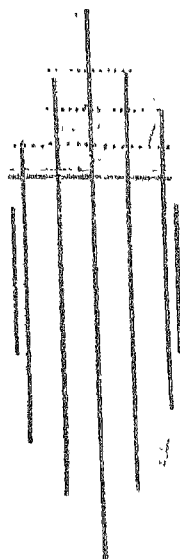
१

मुझे जितनी बार बम्बई से यात्रा करनी पड़ी, कभी जहाज के रवाना होने में देर नहीं हुई। किन्तु कलकत्ता से यात्रा करते समय यात्रा की पूर्व रात्रि को ही जहाज में जाकर बैठ जाना पड़ता है। यह अच्छा नहीं लगता। क्योंकि यात्रा करने का अर्थ ही है अपने मनमें चलने का वेग सञ्चय करना। मन का झुकाव जब चलने की तरफ रहता है, तब उसको रोक रखने का अर्थ यही होगा कि उसकी एक शक्ति के साथ, उसकी ही दूसरी शक्ति का युद्ध मचा देना। जिस समय मनुष्य अपने घर में स्थिर निश्चिन्त भाव से बैठा हो, उसी समय उसको विदा करने की तैयारी शुरू कर दी जाती है, तो वह भी उपर्युक्त कारण से ही कष्टदायक अवस्था हो जाती है, क्योंकि स्थिर रहने के साथ चले जाने का जो सम्मिश्रण है, वह मन के लिए एक कठिनाई का स्थान हो जाता है—इस जगह उसे दो विपरीत विचारों को सम्हाल रखना पड़ता है, वह हो जाता है एक प्रकार का कठिन व्यायाम।

घर के सभी लोग मुझे जहाज पर चढ़ाकर घर लौट गये। मित्रों ने फूलों की मालाएँ गले में पहनाकर विदा किया, किन्तु जहाज अचल बना रहा। अर्थात्, जिन्हें रहना चाहिये वे तो चले गये, और जिसको चलना चाहिये वह स्थिर बना रहा। घर के लोग खिसक गये, पर जहाज खड़ा रह गया।

बराबर ही विदाई के अवसर पर व्यथा उपस्थित होती है। इस व्यथा का मुख्य कारण यह है कि, जीवन में [illegible]

रूप से मिल चुका है, उसे अनिश्चित की आड़ में सौंपकर चले जाना होता है। उसके बदले में हाथोंहाथ यदि दूसरी कोई चीज न मिल जाय तो शून्यता उपस्थित होती है, वही मन के भीतर बोझ-स्वरूप बन जाता है। उसको पाने का मतलब है अनिश्चित को धीरे-धीरे निश्चितता के भाण्डार में पाकर चलना जारी रखना। जिसका परिचय नहीं है, उसको धीरे-धीरे परिचय की पोल में शामिल करते जाना। इसी कारण यात्रा में जो दुःख है, उसके लिए चलना ही औषधतुल्य है। किन्तु, यात्रा कर दी गयी, फिर भी चलना बन्द रहा, इस स्थिति को सह लेना कठिन है।

अचल जहाज का कैबिन बन्धन-दशा का दुगुने ताप से पकाया हुआ अर्क है। जहाज चलता है इसीलिए उसके कमरे की संकीर्णता को हम सह लेते हैं। किन्तु जब जहाज स्थिर रहता है, तब कैबिन में स्थिर रहना, मृत्यु के ढक्कन के नीचे, पुनः कब्र के ढक्कने के नीचे पड़े रहने की तरह है।

सोने की व्यवस्था डेक के ही ऊपर की गयी। इसके पहले अनेक बार जहाज पर चढ़ चुका था, अनेक कप्तानों के साथ जान-पहचान हो चुकी थी। हमारे इस जापानी कप्तान की एक विशेषता है। मिलना-जुलना, सज्जनता देखकर अकस्मात् यही मालूम होता है कि कोई बड़े घर का आदमी है। यह खयाल उठता है कि, इनसे अनुरोध करके, जो ही मन को रुचे, वही कराया जा सकता है, किन्तु कोई काम सामने आने पर यही दिखाई पड़ता है कि नियमों से किंचित् मात्र भी हटने-बढ़ने का उपाय नहीं है। मेरे साथ यात्रा करनेवाले [illegible] ने अपने कैबिन का बड़ा कैबिन के ऊपर जाने की चेष्टा की थी, किन्तु अधिकारी ने मंजूर नहीं किया, वह [illegible] रहा। [illegible] के समय वे जिस टेबिल पर

बैठे हुए थे, वहाँ पंखा नहीं था। हम लोगों के टेबिल के पास जगह थी, यह देखकर हम लोगों के पास बैठने की उन्होंने इच्छा प्रकट की, किन्तु कप्तान ने कहा—इस समय के लिए व्यवस्था हो चुकी है ; डिनर के समय देखा जायगा। हमारे टेबिल के पास कुर्सी खाली पड़ी रही, किन्तु तो भी नियम को तोड़ा नहीं गया। अच्छी तरह यह बात समझ में आ गयी कि, किसी बात में अति अल्प मात्रा में भी कोई शिथिलता न हो सकेगी।

रात के समय हम लोग बाहर सो रहे, किन्तु यह बाहरी जगह कैसी थी ? जहाज के मस्तूलों की भरमार से आकाश मानो भीष्म जी की तरह मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है। कहीं शून्यता का प्रभाव नहीं है, फिर भी वस्तुओं की स्पष्टता भी नहीं है। जहाज की बत्तियाँ एक बहुत बड़े आयतन की सूचना दे रही हैं, किन्तु किसी आकार को देखने नहीं देतीं।

मैंने अपनी किसी कविता में यह भाव व्यक्त किया था कि, मैं निशीथ रात्रि का सभा-कवि हूँ। मेरे मन में बराबर यही विचार उठता रहता है कि, दिन का समय मर्त्यलोक का है, और रात्रि का समय सुरलोक का। मनुष्य भय पाता है, मनुष्य काम-काज करता है, मनुष्य अपने पैरों के पास वाले रास्ते को स्पष्ट रूप से देखना चाहता है, इसीलिए इतना बड़ा प्रकाश जलाने की जरूरत पड़ती है। देवता को कोई भय नहीं है, देवता का काम चुपचाप [illegible] होता है, देवता के चलने के साथ स्तब्धता का कोई [illegible] नहीं है, [illegible] कारण असीम अन्धकार, [illegible] का निके- तन है। देवता रात के ही समय हमारी खिड़कियों [illegible] दर्शन देते हैं।

किन्तु मनुष्य [illegible] रात्रि के

ऊपर अधिकार स्थापित करना चाहता है, तब केवल मनुष्य ही क्लेश पाता है ऐसी कोई बात नहीं है, देवता भी क्लेश में पड़ जाते हैं। हम लोग जिस समय से बत्ती जलाकर, रात को जागकर परीक्षाएँ पास करने में व्यस्त रहते हैं, उसी समय से हम सूर्य के प्रकाश में अपनी सुस्पष्ट निर्धारित सीमा को लंघन करने लगे हैं, उसी समय से मानव देवता का युद्ध शुरू हो गया है। मनुष्य कारखानों की चिमनियों को फूँक-फूँक कर अपने अन्तर की कालिमा को स्वर्गलोक में फैला रहा है, यह अपराध बहुत भारी नहीं है—क्योंकि, दिन मनुष्य के अधिकार में है, उसके चेहरे पर वह स्याही पोत देता है तो देवता उसके इस काम की कोई शिकायत नहीं कर सकते। किन्तु रात्रि के अखण्ड अन्धकार को जब मनुष्य अपने प्रकाशमय दीपकों की सहायता से छिन्न कर देता है, तब वह देवता के अधिकार पर हस्तक्षेप करता है। ऐसा जान पड़ता है मानो वह अपने अधिकार को बढ़ाकर प्रकाश का खूँटा गाड़ कर देवलोक में अपनी सीमा का स्थान चिह्नित करना चाहता है।

उस रात्रिकाल में गंगा के वक्षःस्थल पर मुझे वही देव-विद्रोह का विपुल आयोजन दिखाई पड़ा था। इस कारण मनुष्य की थकावट पर सुरलोक की शान्ति का आशीर्वाद दृष्टिगोचर नहीं हुआ। मनुष्य कहना चाहता है—"मैं भी देवता की तरह हूँ, मुझे क्लान्ति नहीं है।" किन्तु यह बात सच नहीं है, इसीलिए वह चारों तरफ की शान्ति को नष्ट कर रहा है। इसी कारण उसने अन्धकार को भी अपवित्र बना दिया है।

दिन प्रकाश के द्वारा गन्दगी से भरा है, अन्धकार ही परम निर्मल है। अँधेरी रात [illegible] की तरह है, वह अँजन की तरह काले रंग की है, किन्तु तो भी निरंजन है। [illegible]

तरह। वह काला नहीं है, किन्तु कीचड़ से परिपूर्ण है, रात्रि के उस अतलस्पर्श अन्धकार को भी उस दिन उस खिदिरपुर की जेटी पर मैंने मलिन देखा। मालूम हुआ कि, देवता स्वयं मुख मलिन बनाये हुए हैं।

अदन का बन्दरगाह भी ऐसा ही खराब मालूम हुआ था। वहाँ समुद्र भी मनुष्य के हाथ कैद होकर कलुषित हो गया है। जल के ऊपर तेल तैर रहा है, मनुष्य के कूड़ा करकट को समुद्र भी हटाने में असमर्थ हो रहा है। उस रात्रि को जहाज के डेक के ऊपर लेटे रहने की हालत में जब मैंने असीम रात्रि को भी कलंकित देखा, तब मन में यह विचार उठा कि, इन्द्रलोक पर दानवों का आक्रमण हुआ था, तो देवता लोगों ने पीड़ित होकर ब्रह्मा से शिकायत की थी—आज मनुष्यों के अत्याचार से देवताओं की रक्षा कौन रुद्र करेगा?

२

जहाज चलने लगा है। मन्द गति से वायु बह रही है, समुद्र में मौज से चला जा रहा हूँ।

किन्तु मन की यह मौज केवल जल पर उतरा कर चलने में ही निहित नहीं है। जल पर बहते चलने की एक विशेष दृष्टि है और उस विशेष दृष्टि का विशेष रस भी है। जब हम पैदल जमीन पर चलते हैं तब कोई अखण्ड छवि हमारी नजर में नहीं पड़ती। जल पर जहाज से चलने में दो विरोधों का पूर्ण सामंजस्य रहता है—हम बैठे भी रहते हैं, चलते भी रहते हैं। इसलिये चलने का काम हो रहा है, फिर भी चलने के काम में मन को [illegible]

बढ़ रहा है। इसीलिए मन जिसको सामने देख रहा है, उसको परिपूर्ण रूप से देख रहा है, जल-स्थल-आकाश के समग्र अंश को एक साथ मिलाकर देखने का मौका उसे मिल रहा है।

बहते हुये चलने में जो देखना होता है उसमें एक और गुण यह है कि, वह मनोयोग को भी जागृत करता है, किन्तु मनोयोग को वह बद्ध नहीं करता। यदि देखने का उपाय नहीं रहता, तो भी काम चलता, कोई असुविधा नहीं होती, रास्ता नहीं भूलता, किसी गड्ढे में नहीं गिरता। इसलिए बहते हुए चलने में जो देखना होता है, वह है अतिशय दायित्वविहीन देखना। देखना ही उसका चरम लक्ष्य है, इसी कारण यह देखना ऐसा बृहत् है, ऐसा आनन्द-मय है।

इतने दिनों में इतनी बात समझ में आ गयी है कि, मनुष्य अपनी दासता करने को बाध्य है, किन्तु अपने सम्बन्ध में भी दायित्व के कामों में उसके मन में प्रीति नहीं रहती। जब चलने पर ही लक्ष्य रखकर चहल-कदमी करता है, तब वह बहुत अच्छा लगता है; किन्तु जब कहीं पहुँचने की तरफ लक्ष्य रखकर चलना पड़ता है तब उस चलने की बाध्यता से छुटकारा पाने की शक्ति में ही मनुष्य की शक्ति प्रकट होती है। धन नामक चीज का अर्थ यही है, उससे मनुष्य की आवश्यकता कम नहीं होती, किन्तु अपनी आवश्यकता के सम्बन्ध में उसकी अपनी बाध्यता घट जाती है। खाने-पहनने, लेने-देने का दरकार उसे पूरा करना ही पड़ता है, किन्तु उसके बाहर जहाँ उसका अवशेष रहता है वहाँ ही मनुष्य मुक्त है, वहाँ ही वह अपने विशुद्ध स्वरूप का परिचय पाता है। इसीलिए लोटा कटोरी प्रभृति आवश्यकीय चीजों को भी मनुष्य सुन्दर आकार में गढ़ना चाहता है, क्योंकि लोटा-कटोरी

की उपयोगिता मनुष्य की आवश्यकता का परिचय मात्र है, किन्तु उसके सौन्दर्य से मनुष्य की अपनी ही रुचि का, अपने ही आनन्द का परिचय मिलता है। लोटा कटोरी की उपयोगिता कह रही है कि, मनुष्य का दायित्व है। लोटा कटोरी का सौन्दर्य कह रहा है कि मनुष्य के पास आत्मा है।

इसके बिना भी मेरा काम चल जाता, मैं केवल अपनी इच्छा से ही यह कह रहा हूँ, यह जो मुक्त कर्तृत्व और मुक्त भोक्तृत्व का अभिमान है, जो अभिमान विश्व-स्रष्टा और विश्व-राजेश्वर का है, वही अभिमान साहित्य में और आर्ट में है। यह राज्य मुक्त मनुष्य का राज्य है। यहाँ जीवन यात्रा का दायित्व नहीं है।

आज सवेरे प्रकृति, हरे पाड़ वाली गेरुए रंग की एक नई साड़ी पहने मेरे सामने खड़ी है, उसको मैं देख रहा हूँ। यहाँ मैं विशुद्ध द्रष्टा हूँ। यह द्रष्टा 'मैं' यदि अपने को भाषा के द्वारा या रेखा से प्रकाशित करता तो वही हो जाता साहित्य, वही हो जाता आर्ट। निरर्थक ही विरक्त होकर कोई ऐसी बात कह सकता है, तुम देख रहे हो, तो इसमें मेरी क्या गरज है। इससे मेरा पेट भी न भरेगा, मेरा मलेरिया भी न छूटेगा, इससे मेरे खेतों की फसल की पैदावार बढ़ नहीं जायगी। यह बात ठीक है। मैं जो यह देख रहा हूँ, उसमें मेरी कोई गरज नहीं है। फिर भी मैं केवल द्रष्टा हूँ, इस सम्बन्ध में वास्तव में, यदि तुम उदासीन बन जाओगे तो उस हालत में इस जगत में आर्ट और साहित्य सृष्टि का कोई अर्थ नहीं रहेगा।

तुम लोग मुझसे पूछ सकते हो—आज इतनी देर से तुम जो लेख लिख रहे हो, उसको [illegible] सोचना ?

भले ही इसे तत्वालोचना न कहूँ। तत्वालोचना में जो व्यक्ति आलोचना करता है वह प्रधान नहीं है। साहित्य में वह व्यक्ति ही प्रधान है, तत्व उपलक्ष्य है। यह जो सफेद बादलों की छींट के दाग वाले नीले आकाश के नीचे, श्यामल ऐश्वर्यमयी पृथ्वी के आँचल के सामने से सन्यासी जल का स्रोत, उदासी बनकर चला जा रहा है, उसके बीच प्रधानतः द्रष्टा 'मैं' प्रकाश पा रहा हूँ। यदि भूतत्व या भूवृत्तान्त को प्रकट करना होता तो उस अवस्था में इस 'मैं' को हटकर खड़ा होना पड़ता। किन्तु एक 'मैं' के लिये एक दूसरे 'मैं' का अकारण प्रयोजन है, समय इसलिये पाते ही हम भूतत्व को हटा रखते हैं और उस 'मैं' का पता लगाने लगते हैं।

उसी प्रकार केवल दृश्य में नहीं, भावों के बीच भी जो बहता चला जा रहा है, वह भी वही द्रष्टा 'मैं' है। वहाँ जो कुछ वह कहती है वह है उपलक्ष्य, जो कहता है वह लक्ष्य। बाहर के विश्व की रूपधारा की ओर भी मैं जिस तरह ताकते ताकते चला जा रहा हूँ, अपने अन्तर की चिन्ताधारा, भावधारा की ओर भी मैं उसी प्रकार चित्त-दृष्टि लगाकर ताकते ताकते चला जा रहा हूँ। यह धारा किसी विशेष कर्म की विशेष आवश्यकता के सूत्र से विशेष रूप से धृत नहीं है। यह धारा मुख्यतः लाजिक के द्वारा भी गुथी हुई नहीं है, इसका ग्रन्थन सूत्र मुख्यतः 'मैं' हूँ। इस कारण मैं इसकी जरा भी परवाह नहीं करता कि उल्लिखित रचना को लोग पक्की बात के रूप में स्वीकार करेंगे या नहीं। विश्व लोक में और चित्त लोक में मैं देख रहा हूँ' इस अत्यावश्यक आनन्द की बात कहना ही मेरा काम है। यदि मैं इस बात को ठीक तौर से कह सकूँ, तो दूसरे सभी 'मैं' के [illegible] भी प्रयोजन के बिना ही प्रसन्न हो सकेंगे।

उपनिषद् में लिखा है—एक डाली पर दो पक्षी हैं, उनमें से एक पक्षी खाता है, और दूसरा पक्षी देखता है। जो पक्षी देख रहा है, उसका ही आनन्द बड़ा आनन्द है, क्योंकि उसका आनन्द विशुद्ध है, मुक्त आनन्द है। मनुष्य के अपने ही अन्दर दो पक्षी हैं। एक पक्षी का प्रयोजन है, दूसरे पक्षी का प्रयोजन नहीं है। एक पक्षी भोग करता है, दूसरा पक्षी देखता है। जो पक्षी भोग करता है वह निर्माण करता है, जो पक्षी देखता है वह सृष्टि करता है। निर्माण करने का अर्थ है माप के अनुसार तैयार करना, अर्थात जो तैयार हो रहा है वही चरम नहीं है, उसी को किसी दूसरी चीज की नाप के अनुसार तैयार करना है—चाहे वह अपनी आवश्यकता की नाप के अनुसार हो या दूसरों की आवश्यकता की नाप के अनुसार और सृष्टि करना किसी दूसरी चीज की नाप की अपेक्षा नहीं करता, वह है अपने को सर्जन करना, अपने को ही प्रकाश करना। इसीलिए भोगी पक्षी जिन सब उपकरणों को लेकर काम कर रहा है, वे प्रधानतः बाहर के उपकरण हैं, और देखने वाले पक्षी का उपकरण है 'मैं' पदार्थ। इस 'मैं' का प्रकाश ही साहित्य है, आर्ट है। उसके भीतर कोई दायित्व नहीं है, कर्तव्य का दायित्व भी नहीं है।

पृथ्वी में जो सबसे बड़ा रहस्य है, वह देखी जाने वाली वस्तु नहीं है, जो देखता है वही मनुष्य है। यह रहस्य आप ही अपना ठिकाना नहीं पा रहा है, हजार हजार अभिज्ञताओं के भीतर से वह अपने को देखने की चेष्टा कर रहा है। जो कुछ घटनाएं हो रही हैं, और जो कुछ घटित हो सकती हैं, सभी के भीतर से वह अपने को बचाकर, ठोंक कर देख रहा है।

यह जो मेरा एक 'मैं' है, यह बहु के बीच से चलता हुआ

अपने को सर्वदा भलीभाँति समझता रहता है। वस्तु के साथ मनुष्य के उस 'एक' के मिलनजात रस की उपलब्धि है, साहित्य की सामग्री। अर्थात्, दृष्ट वस्तु नहीं, द्रष्टा 'मैं' ही है उसका लक्ष्य।

तोसामारू जहाज
२० वैशाख १३२३

३

बृहस्पतिवार को अपराह्न में समुद्र के मुहाने पर पायलट उतर गया। इसके कुछ पहले से ही समुद्र का रूप दिखाई पड़ने लगा था। उसके तट की बेड़ी खिसक गयी थी। किन्तु अभी तक उसका मटमैला रंग दूर नहीं हुआ था। उस समय तक यह बात प्रकट नहीं हुई थी कि, पृथ्वी की अपेक्षा आकाश के ही साथ उसकी आत्मीयता अधिक है। केवल यही दिखाई पड़ा कि जल और आकाश ने एक ही दिगन्त में परस्पर माल्यपरिवर्तन कर लिया है। जो तरंगें उठने लगी हैं, वे नदी की तरंगों की तरह उसके छोटे-छोटे पद-विभाग नहीं हैं। ये मानो मन्दाक्रान्त हैं, किन्तु अभी तक समुद्र का शार्दूल विक्रीड़ित नहीं हुआ है।

हमारे जहाज के निचले तले के डेक में बहुत से डेक पसेंजर हैं। उनमें से अधिकांश मद्रासी हैं, और उनमें से प्रायः सभी रंगून जा रहे हैं। उनके प्रति जहाज के लोगों के व्यवहार में जरा भी कठोरता नहीं है, वे लोग बहुत आराम से हैं। जहाज के भण्डार से उनमें से प्रत्येक को चित्रांकित एक-एक कागज की पंखी मिली हैं, जिससे वे बहुत खुश हो गये हैं।

इनमें बहुत से ही यात्री हिन्दू हैं, इस कारण इनको यात्रा में

जो कष्ट हो रहा है, उसे दूर करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। किसी तरह ईख चाभते हुए, चिउड़ा चबाते हुए इनके दिन बीत रहे हैं। इनके एक व्यवहार पर विशेष रूप से दृष्टि आकर्षित होती है। साधारणतः ये लोग साफ़-सुथरे हैं—किन्तु यह केवल विधान की सीमा में ही आबद्ध है, विधान के बाहर इनके गन्दे होने में कोई बाधा नहीं है। ईख चाभकर उसके छिलकों को अनायास ही समुद्र में फेंका जा सकता है, किन्तु इतना भी कष्ट उठाना इनके विधान में शामिल नहीं है—जहाँ बैठकर चाभ रहे हैं, उसके एकदम निकट ही छिलके फेंकते जा रहे हैं। इस तरह चारों तरफ कितना कूड़ा-करकट जमा हो गया है इसपर उनकी ज़रा भी नजर नहीं है। इनके आच-रण में जो बात मुझे सबसे अधिक पीड़ा देती है, वह यह है कि, थूकने में ये लोग कोई विचार नहीं करते। फिर भी, विधान के अनुसार पवित्रता रक्षा करते समय एकदम साधारण विषय में भी ये लोग असाधारण कष्ट स्वीकार करते हैं। आचार को कठोर बना देने से विचार को शिथिल करना ही पड़ता है। बाहर से मनुष्य को बाँध देने से मनुष्य अपने को आप ही बाँध देने की शक्ति खो देता है।

इन यात्रियों में कुछ मुसलमान हैं, साफ रहने के सम्बन्ध में वे लोग विशेष सतर्क हैं, ऐसी कोई बात नहीं है। किन्तु परि-च्छन्नता के सम्बन्ध में इन लोगों की सतर्कता विशेष है। अच्छे कपड़े पहन कर, टोपी सजावट से पहने, वे सर्वदा तैयार रहना चाहते हैं। थोड़ा-सा भी परिचय हो जाने पर, [illegible] वे लोग प्रसन्न मुखसे सलाम करते हैं। यह [illegible] है कि वे लोग बाहर के संसार को मानते हैं। [illegible] सीमा में पड़े रहते हैं, उनकी दृष्टि में उस सीमा

के बाहर के सभी लोकालय अत्यन्त नीरस दिखाई पड़ते हैं। वे लोग पूर्णरूप से जाति-रक्षा के बन्धनों में आबद्ध रहते हैं। मुसल-मानों में जाति का ऐसा कोई बन्धन नहीं है, इस कारण बाहर के संसार के साथ उनके व्यवहारों का सम्पर्क बँधा हुआ है। इस कारण अदब-कायदा मुसलमानों में है। अदब-कायदा सभी मनुष्यों के साथ चलने वाले व्यवहारों के साधारण नियम को कहते हैं। मनुस्मृति में वे सभी नियम बताये गये हैं जिनके अनुसार माता, मौसी, मामा फूफा के साथ व्यवहार करना उचित है। यह भी बताया गया है कि गुरुजनों के गुरुत्व की मात्रा किस हद तक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में पारस्परिक व्यवहार कैसा होना चाहिये। किन्तु साधा-रण भाव से मनुष्य के साथ मनुष्य का व्यवहार कैसा होना चाहिये, इसका कोई विधान उस ग्रन्थ में नहीं है। इस कारण सम्पर्क विचार और जाति विचार के बाहर मनुष्यों के साथ भद्रता रक्षा के लिए पश्चिम भारत के लोगों ने मुसलमानों से सलाम करने का नियम सीख लिया है। क्योंकि, प्रणाम-नमस्कार की जितनी विधियाँ हैं, वे केवल अपनी जाति के ही अन्तर्गत चलती हैं। बाहर के संसार को इसके पहले हमलोग अस्वीकार करके ही चल रहे थे, इस कारण साज-सज्जा के सम्बन्ध में जो परिच्छिन्नता का भाव है, उसे हमने या तो मुसलमानों से सीखा है, या अँग्रेजों से लिया है। उसमें हमें आराम नहीं मिलता। इस कारण भद्रता के साज के सम्बन्ध में आजतक हम लोगों में कोई पक्का नियम नहीं बन सका है। बङ्गाली भले आदमियों की साज-सज्जा में जो ऐसी विचित्रताएँ मौजूद हैं, उसका यही कारण है। सभी साज हमारे साज हैं। हमारे अपने जो साज हैं, वे घरवालों के भीतर के साज हैं। इस कारण बाहर के लोगों के लिये है [illegible] कहने से ही काम चला

जायगा—अन्तःपुर की स्त्रियों का वस्त्र जैसा है, वह दिग्-वसन का सुन्दर अनुकरण है। बाहर के लोगों के साथ हमलोग भाई 'चाचा' दीदी, मौसी आदि कोई एक सम्पर्क स्थापित करने के लिए व्यस्त रहते हैं, नहीं तो हमें थाह नहीं मिलती है। या तो अत्यन्त घनिष्ठता हो या अत्यन्त दूरी रहे, इन दोनों के बीच जो एक बहुत बड़ी जगह है, उस पर आज तक भी हम लोगों का पूरा अधिकार नहीं हुआ है। यहाँ तक कि, यहाँ के विधि-बन्धनों को हमलोग हृदयता का अभाव कहकर निन्दा करते हैं। यह बात हम भूल जाते हैं, कि जन लोगों को हम हृदय नहीं दे सकते, उनको भी कुछ देना आवश्यक है। इस दान को ही हम कृत्रिम कहकर गालियाँ देते हैं, किन्तु जाति के कृत्रिम पिंजड़े में पाले जाने के ही कारण यह साधारण अदब-कायदा हमें कृत्रिम मालूम होता है। वस्तुतः घर के मनुष्यों को आत्मीय कहकर, और उसके बाहर के मनुष्यों को समाज का कहकर, स्वीकार करना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। हृदय का बन्धन शिष्टाचार का बन्धन, और अदब कायदा का बन्धन—ये तीनों ही मनुष्यों के प्रकृतिगत हैं।

कप्तान ने पहले ही सूचित कर दिया है, आज सन्ध्या के समय आँधी आवेगी, बैरामीटर उतर रहा है। किन्तु, शान्त आकाश में सूर्य डूब गया। हवा में जिस परिमाण में वेग रहने से उसे मन्द पवन कहते हैं, अर्थात् जिसकी तुलना कविगण युवती के मन्द गमन के साथ की जा सकती है, यह वेग उससे कुछ अधिक है, किन्तु लहरों को लेकर रुद्रताल का करताल बजाने लायक मजलिस नहीं जमी। जिस परिमाण में [illegible] हो रही है, उससे आँधी की कोई सूचना भी [illegible]। मैंने मन में सोचा कि, मनुष्य की जन्मपत्री की तरह, हवा की जन्मपत्री की गणना का

फल ठीक नहीं निकलता, इस बार आँधी का संकट कट गया। इसी लिए पायलट के हाथ में अपने स्थलभाग की चिट्ठी-पत्रियाँ सौंपकर प्रसन्न समुद्र की अभ्यर्थना करने के लिए डेक-चेयर लेकर पश्चिम की तरफ मुख करके मैं बैठ गया।

होली की रात को हिन्दुस्तानी दरबानों का जैसा हल्लागुल्ला चलता है, उसी तरह हवा का लय धीरे धीरे तेज होने लगा। जल के ऊपर सूर्यास्त के रंगीन चित्र अंकित आसन को आच्छन्न करके नीलाम्बरी का घूँघट काढ़े सन्ध्या आ गयी। उस समय तक भी आकाश में बादल नहीं थे, आकाश समुद्र की फेनों की ही तरह, छायापथ चमकने लगा।

डेक के ऊपर बिछौना बिछा कर जब सो गया, तब हवा में और जल में कवियों की तरह लड़ाई चल रही थी। एक तरफ बोलों शब्दों की तान चलने लगी थी, और दूसरी तरफ छल छल शब्दों से उसका जवाब मिल रहा था, किन्तु आँधी की पारी है, ऐसा कोई लक्षण नहीं मालूम हुआ। आकाश के तारों के साथ आँखों की दृष्टि मिलाकर पता नहीं कब आँखें बन्द हो गयीं।

रात के समय मैंने एक सपना देखा। मालूम हुआ, मानो मैं मृत्यु के सम्बन्ध में कोई वेदमन्त्र जप रहा हूँ और उसकी ही व्याख्या करके किसी को समझा रहा हूँ। वह मन्त्र आश्चर्य जनक रूप से रचित हुआ था। मानो वह कोई विपुल आर्तस्वर की तरह था। फिर भी उसमें मृत्यु का एक विराट वैराग्य निहित था। इस मन्त्र के बीच ही मैं जाग उठा तो मुझे दिखलाई पड़ा कि, आकाश और जल उस समय उन्मत्त हो उठे थे। समुद्र चामुण्डा की तरह फेन की जीभ निकाल कर प्रचण्ड अट्टहास्य से नृत्य कर रहा था।

आकाश की तरफ नजर उठा कर देखा, बादल एकदम जान देने को तैयार हो उठे हैं, मानो उनको कोई होशहवास नहीं है — कह रहे हैं—'होने दो जो भाग्य में बदा है'। और जल में जो विषम गर्जन उठ रहा है, उससे मानो मन की भावना तक भी नहीं सुनाई पड़ती, ऐसा ही मालूम होने लगा। मल्लाह लोग छोटी-छोटी लालटेनें हाथ में लिए हुये घबड़ाहट में पड़ गये हैं, इधर-उधर घूम फिर रहे हैं किन्तु बिना शब्द किये। रह रहकर इंजिन के प्रति कर्णधार की संकेत ध्वनि सुनाई पड़ रही थी।

इस बार बिछौने पर लेट कर मैंने सो जाने की चेष्टा की। किन्तु, बाहर जल-वायु का जो गर्जन हो रहा था, वह और मेरे मन में, स्वप्नलब्ध वह मरण मन्त्र लगातार गूँजने लगा। मेरी नींद के साथ जागरण मानो उस आँधी और तरंगों की तरह बिखरी हुई हालत में मन की मौज से आनन्द मनाने लगा था, नींद में पड़ा हूँ या जाग रहा हूँ कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था।

क्रोधी मनुष्य के मुँह से जिस तरह कोई बात नहीं निकलती और वह फूल फूल उठता है, प्रातःकाल के बादल वैसे ही मालूम हुए। हवा ने केवल श ष स और जल ने केवल बाकी अन्तस्थ वर्ण य र ल व ह का उच्चारण करके चण्डीपाठ आरम्भ कर दिया, और बादल जटा हिलाते हुये भौंह तानकर चक्कर काटने लगे। अन्त में बादलों की वाणी जलधारा के रूप में उतर पड़ी। मुझे उस पौराणिक कथा की याद आ गयी जब कि नारद की वीणा-ध्वनि सुनकर विष्णु-गंगा धारा में विगलित हो गयी थी। किन्तु यह कौन नारद प्रलय-वीणा बजा रहा है—इसके साथ तो नन्दीभृङ्ग का मेल देख रहा हूँ, और इधर विष्णु के साथ रुद्र का पार्थक्य दूर हो गया है।

अबतक जहाज की नित्य क्रिया एक प्रकार से चल ही रही है;

यहाँ तक कि, हम लोगों के प्रातःकाल के जलपान में भी कोई बाधा नहीं पड़ी । कप्तान के चेहरे पर घबड़ाहट का कोई चिह्न नहीं था । उन्होंने कहा—इस समय कुछ कुछ ऐसी ही अवस्था हो जाती है । जिस तरह हम लोग यौवन की चंचलता देखकर कह देते हैं 'यह तो इस उम्र का धर्म है ।'

कैबिन के भीतर रहने से झकझोरा खाना पड़ेगा, इससे अच्छा तो यही है कि खुल्लमखुल्ला तूफान के साथ मुकाबिला किया जाय । हम लोग शाल-कम्बल ओढ़कर जहाज के ऊपर डेक पर ही जाकर बैठ गये । तूफान का झपेटा पश्चिम दिशा से आ रहा था, इसलिए पूरब तरफ के डेक पर बैठना दुस्साध्य नहीं था, तूफान धीरे-धीरे बढ़ता ही गया । बादल के साथ, तरंगों का कोई भेद नहीं रहा । समुद्र का वह नीला रंग नहीं है, चारों तरफ धुँधला बदरंग हो गया है । लड़कपन में आरब्योपन्यास में मैंने पढ़ा था कि, मछुए के जाल में जो घड़ा मिला था, उसके भीतर से धुएँ की तरह चक्कर लगा-लगाकर बड़े-बड़े दैत्य निकल पड़े थे । मुझे मालूम हुआ कि, समुद्र के नीले ढक्कन को किसी ने खोल दिया है, और भीतर से धुएँ की तरह लाखों-लाखों दैत्य परस्पर ठेलाठेली करते-करते आकाश में उठ रहे हैं ।

जापानी मल्लाह दौड़-धूप मचा रहे हैं, किन्तु उनके चेहरे पर हँसी लगी हुई है । उनका मनोभाव देखने से मालूम होता है, मानो समुद्र अट्टहास्य करता हुआ जहाज के साथ केवल मजाक कर रहा है । पश्चिम तरफ के डेक के दरवाजे आदि सभी बन्द हैं, तो भी उन सब बाधाओं को हटाकर जल की तरंगे कभी-कभी इधर-उधर [illegible] पहुँचती हैं, और यही देखकर वे लोग हो-हो कर हँसते हैं ।

कप्तान ने हम लोगों से बार-बार कहा—यह छोटी-सी आँधी है, मामूली आँधी है। एक समय स्टुवार्ड आया और टेबिल के ऊपर अँगुली रखकर उसने यह बतलाने की चेष्टा की कि, तूफान के कारण जहाज का रास्ता कैसे बदल गया है। इसके बीच वृष्टि का झोंका लगकर शाल-कम्बल सब भींग गये और जाड़े से कँपकँपी शुरू हो गयी। और कहीं सुविधा न देखकर मैंने कप्तान के केबिन में जाकर आश्रय लिया। बाहर से मुझे इस बात का कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ा कि कप्तान के मन में किसी तरह की घबड़ाहट है।

कमरे के अन्दर मैं बैठा न रह सका। भींगा शाल ओढ़कर फिर बाहर आकर बैठ गया। इतनी बड़ी आँधी में भी हम डेक के ऊपर पछाड़-पछाड़ कर फेंके नहीं जा रहे हैं, इसका कारण यह है कि, जहाज नीचे से ऊपर तक भरपूर बोझों से लदा हुआ है। जिसके अन्दर कोई पदार्थ नहीं है उसकी तरह हिलनेवाली अवस्था हमारे जहाज की नहीं है। मृत्यु की बात अनेक बार याद पड़ी। चारों तरफ ही तो मृत्यु है। दिगन्त से दिगन्त तक मृत्यु है, मेरा प्राण इसमें इतना छोटा-सा है। इस अति छोटे के ऊपर ही पूरी आस्था रखूँगा, और इस अति बड़े के ऊपर कुछ विश्वास न करूँगा।—बड़े के ऊपर भरोसा रखना ही अच्छा है।

डेक पर बैठे रहने से काम नहीं चलता। नीचे उतरने लगा तो मैंने देखा कि, सीढ़ी तक सब रास्ते को छेंक कर डेक-पसेंजर बैठे हुए हैं। बहुत कष्ट से उन लोगों के भीतर से रास्ता बना मैं केबिन के [illegible] इस बार सारा ही शरीर-मन गँदला हो [illegible]। [illegible] कि, शरीर के [illegible] नहीं हो रहा है। दूध मथने से जिस तरह [illegible] मानो प्राण [illegible]।

जहाज के ऊपर का झूलना सहा जाता है, जहाज के भीतर का झूलना सह लेना कठिन है। कंकड़ के ऊपर से चलना और जूते के भीतर कंकड़ रखकर चलने में जो अन्तर है, यह मानो वैसी ही बात है। एक में मार है, बन्धन नहीं है, और एक में बाँध कर मारने के बराबर है।

केबिन के अन्दर लेटे-लेटे मैंने सुन लिया, डेक के ऊपर मानो कोई चीज धुड़मुड़ करके टूट-टूटकर गिर रही है। केबिन के भीतर हवा आने के लिए जो सब फानेल डेक के ऊपर मुँह बाये लम्बी साँस लेते हैं, उनके मुँह ढक्कन से ढक दिये गये हैं। किन्तु तरंगों की प्रबल चोट से उनके भीतर से भी जल छलक-छलककर केबिन में घुस रहा है। यह उनचास पवन का नृत्य चल रहा है, फिर भी केबिन में सन्नाटा है। एक इलेक्ट्रिक पंखा चल रहा है। उस पर ताप मानो शरीर के ऊपर घूम-घूमकर पूँछ का झोंटा लगाने लगा।

अकस्मात् यह विचार उठता है कि, यह बिलकुल ही अकारण है। किन्तु मनुष्य के अन्दर शरीर, मन, प्राण की अपेक्षा भी बड़ी एक सत्ता है। तूफान के आकाश के ऊपर भी जिस तरह शान्त आकाश रहता है, तूफान के समुद्र के नीचे भी जिस तरह शान्त समुद्र रहता है, वही आकाश, वही समुद्र ही जिस तरह बड़े हैं, मनुष्यों के अन्तर की गहराई में और बहुत ऊँचाई में एक विराट शान्त पुरुष मौजूद है—विपद और दुःखों के बीच से उसे गौर से देखने से पा सकते हैं—दुःख उसके पैरों के नीचे है, मृत्यु उसको स्पर्श नहीं करती।

सन्ध्या के समय तूफान बन्द हो गया। ऊपर जाकर मैंने देखा कि, जहाज पर समुद्र से जो थपेड़-चपेटे अब तक पड़े हैं, उनके अनेक चिह्न मौजूद हैं। कप्तान की कोठरी की एक दीवार टूट गयी

है, और उनका माल-असबाब सब भीग गया है। एक बँधा हुआ लाइफबोट घायल हो गया है। डेक में पसेंजरों का एक कमरा और भण्डार का एक हिस्सा टूट गया है। जापानी मल्लाह ऐसे सब कामों में लगे हुए थे, जिनसे प्राण-संशय था। आसन्न संकट के साथ जहाज ने जो बराबर युद्ध किया है, उसका एक स्पष्ट प्रमाण मिल गया—जहाज के डेक पर कार्क से बनाये गये कुर्ते सजाये हुए थे। एक समय इन सबको उतार लाने की बात कप्तान के मन में आ गयी थी। किन्तु आँधी के इस उपद्रव में सबसे अधिक स्पष्टता से मुझे जापानी मल्लाहों की हँसी-खुशी ही याद पड़ रही है।

शनिवार को आकाश प्रसन्न दिखाई पड़ा। किन्तु समुद्र का प्रकोप अभी कम नहीं हुआ था। आश्चर्य की बात यह हुई कि, आँधी के समय जहाज जितना नहीं हिलता-डुलता था, उससे कहीं अधिक आँधी के रुक जाने पर हिलने-डोलने लगा। वह मानों कल के उत्पात को किसी तरह भी माफ नहीं करना चाहता, लगातार उमड़-घुमड़ उठता है। हमारे शरीर की अवस्था भी बहुत कुछ उसी तरह की है। आँधी के समय वह एक तरह कड़ा था, किन्तु दूसरे दिन वह भूल नहीं पा रहा था कि उसके ऊपर से तूफान चला गया है।

आज है रविवार। जल का रंग फीका हो उठा है। इतने दिनों के बाद मुझे आकाश में एक पक्षी दिखाई पड़ा—ये सब पक्षी ही पृथ्वी की वाणी आकाश में ढो ले जाते हैं। आकाश अपना प्रकाश देता है, पृथ्वी अपना गान देती है। समुद्र के पास जो सब गान हैं, [illegible] हैं। उसकी गोद में जीव असंख्य हैं, [illegible]। किन्तु उनमें से किसी के कंठ में सुर नहीं है। इन असंख्य गूंगे जीवों की तरफ से समुद्र स्वयं ही बोल रहा है। [illegible]

द्वारा मनका भाव व्यक्त करते हैं। जलचरों की भाषा है गति। समुद्र है नृत्य लोक और पृथ्वी है शब्दलोक।

आज तीसरे पहर चार-पाँच बजे रंगून पहुँचने की बात है। मंगलवार से शनिवार तक पृथ्वी में तरह तरह के समाचारों का आदान-प्रदान हो रहा था। वे सभी हमलोगों के लिए संचित हो उठे हैं। वे वाणिज्य के धन की तरह नहीं हैं जिसका हिसाब प्रतिदिन चल रहा है, कम्पनी के कागज की तरह हैं, अनजान में जिसका ब्याज बढ़ता जा रहा है।

६

बैशाख की २४ वीं तारीख को हम लोग रंगून पहुँच गये। आँखों के पीछे गौर से देखने के लिए एक पाक यन्त्र है। वहाँ जो कुछ दिखलाई पड़ता है वे जब तक अच्छी तरह हज़म नहीं हो जाते तब तक उसे अपना बनाकर दिखाया नहीं जाता। उसे न भी दिखाया गया तो क्या हर्ज है, ऐसी बात कोई कह सकता है। जहाँ हम पहुँच गये वहाँ का संक्षिप्त विवरण देने में दोष ही क्या है।

दोष भले ही न हो, किन्तु मेरा अभ्यास दूसरे ही प्रकार का है। कभी-कभी नोट लिख लेने और रिपोर्ट दे देने का अनुरोध मुझसे किया गया है। किन्तु वे सब छोटी-छोटी बातें मेरे मनकी मुट्ठी के खाली छेदों से निकल कर गिर जाती हैं, जब प्रत्यक्ष एक बार मेरे मन के नेपथ्य में [illegible], उसके बाद जब प्रकाश के मंच पर आकर [illegible] इसके साथ मेरा व्यवहार चलने लगता है।

[illegible], देखते-देखते घूमना फिरना, मेरे लिए [illegible] और [illegible] है। इस कारण मेरी लेखनी से कोई

बहुत अच्छा। भ्रमण वृत्तान्त तुम लोग न पाओगे। अदालत के सामने सत्य बोलकर मैं साक्षी दे सकता हूँ कि, मैं रंगून नामक एक शहर में पहुँच गया था, किन्तु जिस अदालत में, और भी बड़े प्रकार का सत्य बोलना पड़ता है, वहाँ मुझे कहना ही पड़ेगा कि रंगून में मैं पहुँचा ही नहीं था।

ऐसा हो भी सकता है कि, रंगून शहर खूब एक सत्य वस्तु नहीं है। उसकी सड़कें सीधी हैं, चौड़ी हैं, साफ हैं। मकान खूब चमक रहे हैं। राह घाट पर मद्रासी, पंजाबी गुजराती घूम-फिर रहे हैं। उनके बीच अकस्मात कहीं रंगीन रेशमी कपड़े पहने ब्रह्मदेश कि किसी पुरुष या स्त्री को जब देख लेता हूँ तब यह ख्याल उठता है, शायद ये ही लोग विदेशी हैं। असल बात यह है कि गंगा का पुल जिस तरह गंगा का नहीं वरन् वह गंगा के गले की फाँसरी है, उसी तरह रंगून शहर ब्रह्म देश का शहर नहीं है, वह मात्र समूचे देश के प्रतिवाद की तरह है।

सबसे पहले यह बताना है कि, इरावती नदी से जिस समय शहर के आसपास पहुँच रहा था, उस समय ब्रह्मदेश का प्रथम परिचय क्या रहा। मुझे यह दिखाई पड़ा कि, तटवर्ती स्थल में केरासिन तेल के [illegible] कारखाने खुले हुए हैं, [illegible] चिमनियाँ आ[illegible] हैं। वे ऐसी मालूम हो रही हैं मानों ये सब कारखाने चित लेटे हुए बर्मा-चुरुट पी रहे हैं। उसके जितना ही आगे बढ़ने लगा जहाजों की भरमार दिखाई पड़ी। इनमें देश विदेश के जहाज शामिल थे। उसके बाद जब मैं घाट पर [illegible] नहीं दिखाई पड़ता था। [illegible] [illegible]

उसके, बाद आफिस अदालत, दूकान-बाजार के बीच से चलकर मैं अपने बंगाली मित्रों के घर चला गया। किसी भी खास अंश के जरिये ब्रह्मदेश का कोई भी चेहरा मुझे नहीं दिखाई पड़ा। ऐसा विचार आया कि, रंगून ब्रह्मदेश के नक्शों में है, किन्तु देश में नहीं है। अर्थात्, यह शहर देश की मिट्टी से वृक्ष की तरह नहीं उगा है। यह शहर काल के स्रोत में फेन की तरह बह चला है, इस कारण यह जगह भी जैसी है, दूसरी जगह भी वैसी ही है!

असल बात यह है कि, पृथ्वी में जो सब शहर सत्य हैं, वे मनुष्यों की ममता के द्वारा तैयार हो उठे हैं। दिल्ली कहिये, आगरा कहिये या काशी की ही बात लीजिए, उनको मनुष्य के आनन्द ने बना डाला है। किन्तु वाणिज्य-लक्ष्मी निर्मम है, उसके पैरों के नीचे मनुष्यों के मानस-सरोवर के सौन्दर्य-शतदल नहीं खिलते। मनुष्यों की तरह वह मनुष्यों की तरफ नजर उठाकर नहीं देखती, वह केवल वस्तु को चाहती है, यन्त्र उसका वाहन है! गंगा से जब हमलोगों का जहाज आ रहा था, तब वाणिज्य-श्री की निर्लज्ज निर्दयता मैं नदी के दोनों तटों पर देखते देखते आ रहा था। उसके मनमें प्रीति नहीं है, इसी कारण बंग देश की गंगा तटवर्ती ऐसी सुन्दर मूर्ति को वह इतने अनायास नष्ट कर सकी है।

मेरे विचार से यह मेरा परम सौभाग्य था कि लोहे की बाढ़ जिस समय कलकत्ते के आसपास दोनों किनारों को, मेटियाबुरुज से लेकर हुगली तक, निगल जाने के लिये दौड़ती आ रही थी, उसके पहले ही मेरा जन्म हो गया था। उस समय गंगा के घाटों ने, गाँव की स्निग्ध बाहों की तरह गंगा को अपनी छाती के पास [illegible] था, उन दिनों भी कोठियों की नावें सन्ध्या के समय [illegible] किनारे, घाट घाट पर, घर के लोगों

को घर वापस पहुँचा जाती थी। एक तरफ थी देश के हृदय की धारा, दूसरी तरफ थी देश की इस नदी की धारा, इनके बीच कोई कठिन कुत्सित विच्छेद खड़ा नहीं हुआ था।

उस समय भी कलकत्ते के आसपास बंग देश के सच्चे रूप को दोनों आँखों से परिपूर्ण भाव से देखने में किसी तरह की बाधा नहीं थी। इसी कारण कलकत्ता आधुनिक शहर होने पर भी कोयल के बच्चे की तरह, अपना पालन करने वाली के घोंसले को एकदम रिक्त बना कर अधिकार नहीं कर बैठा थी। किन्तु इसके बाद वाणिज्य सभ्यता जितनी ही प्रबल हो उठने लगी, देश का रूप उतना ही आच्छन्न होने लगा। अब कलकत्ता बंग देश को अपने चारों तरफ निर्वासित कर रहा है। देश और काल की लड़ाई में देश की श्यामल शोभा पराभूत हो गई। काल की कराल मूर्ति ही लोहे के दाँत नख फैलाकर काला निःश्वास छोड़ने लगी है।

एक समय मनुष्य ने कहा था—वाणिज्ये वसति लक्ष्मीः। उस समय मनुष्य ने मनुष्य का जो परिचय प्राप्त किया था, वह तो केवल ऐश्वर्य में नहीं था, उसके सौन्दर्य में था। इसका कारण यह है कि, उस समय वाणिज्य के साथ मनुष्यत्व का विच्छेद उपस्थित नहीं हुआ था। करघे के साथ जुलाहे का, लोहार के हथौड़े के साथ लोहार के हाथ का, कारीगर के साथ उसकी कारीगरी के मन का मेल था। इस कारण वाणिज्य के जरिये मनुष्य का हृदय, अपने को ऐश्वर्य से विच्छिन्न बनाकर सुन्दरता के साथ व्यक्त करता था। नहीं तो लक्ष्मी [illegible] से पा जातीं? जिस समय से [illegible] वाहन, उस समय से वाणिज्य [illegible] के साथ आधुनिक [illegible] की तुलना करने से ही जो अन्तर है, [illegible] है।

वेनिस में सौन्दर्य और ऐश्वर्य के द्वारा मनुष्य ने अपना ही परिचय दिया है, मांचेस्टर में मनुष्य ने सब तरफ से अपने को छोटा बनाकर अपने यन्त्रों का परिचय दिया है। इसीलिए यन्त्रवाहन जहाँ ही गया है वहाँ ही अपनी कालिमा से, कदर्यता से, निःरसता से फललोलुपता की महामारी समूची पृथ्वी में फैलाता गया है, इसी को लेकर काटाकाटी-मारपीट का अब अन्त नहीं है। इसी कारण असत्य से लोकालय कलंकित हो उठे हैं, और रक्तपात से धरातल पंकिल हो उठा है। आज अन्नपूर्णा काली बन गयी है। उनकी अन्न परोसने की करछी आज रक्तपान का खप्पर बन गयी है। उनकी मुस्कुराहट आज अट्टहास्य से भीषण हो उठी है! जो भी हो, मेरा वक्तव्य यह है कि, वाणिज्य मनुष्य को प्रकाशित नहीं करता, वह मनुष्य को प्रच्छन्न कर देता है।

इसलिए मेरा कथन यह है कि रंगून तो मैंने देख लिया, किन्तु वह देखना केवल आँखों का देखना था, उस देखने में कोई परिचय नहीं था! वहाँ से मैं अपने बंगाली मित्रों के आतिथ्य की स्मृति लिये आया हूँ, किन्तु ब्रह्म देश के हाथ से कोई दक्षिणा नहीं ला सका हूँ। सम्भवतः मेरी यह बात जरा अत्युक्ति हो गयी। आधुनिकता की इस चहारदीवारी में मैं देश की एक खिड़की हठात् खुली पा गया था। सोमवार को दिन के समय मेरे मित्रगण मुझे वहाँ के सुप्रसिद्ध बौद्ध मन्दिर में ले गये।

इतनी देर में मुझे कुछ देखने को मिला। इतनी देर तक जिसके बीच मैं था, वह था एक अविच्छिन्न पदार्थ। वह था एक शहर, किन्तु कोई एक शहर ही नहीं था। अब जो कुछ देख रहा हूँ, उसका अपना ही एक विशेष चेहरा है। इसीलिए समस्त मन प्रसन्न होकर जागरूक हो उठा है। आधु-

सिर्फ बंगाली के घर में कभी-कभी नयी फैशनवाली लड़कियाँ देख पाता हूँ, वे खूब [illegible] चलती हैं, चटपट स्वर से अंग्रेजी में बातें करती हैं। यह देखकर मनमें एक बहुत बड़ा खटका पैदा हो जाता है — मालूम होता है कि, फैशन को ही बड़े रूप में देख रहा हूँ, बंगाली की लड़की को नहीं। ऐसे ही समय में अकस्मात् फैशन-जाल मुक्त, सरल, स्निग्ध, सुन्दर बंगाली घर की कल्याणी को देख लेने पर उसी क्षण में समझ गया कि, यह तो मरीचिका नहीं है ; स्वच्छ, गम्भीर सरोवर की तरह इसके भीतर एक प्यास मिटानेवाली पूर्णता अपने कमल-वन का किनारा लेकर छल-छल कर रही है। मन्दिर के भीतर प्रवेश करते ही मेरे मन में उसी तरह एक आनन्द का झोंका आ गया। मन में ख्याल उठा कि, यह तो [illegible] नहीं है, जितना आँखों से दिखाई पड़ रहा है, वह उसकी अपेक्षा और भी बहुत अधिक है। समूचा रंगून शहर इसके सामने छोटा हो गया। बहुत दिनों के बृहत् ब्रह्म देश ने इस मन्दिर में अपने को प्रकट कर दिया है।

पहले ही बाहर के प्रखर प्रकाश से मैं एक पुरातन काल की परिव्याप्त छाया में प्रवेश कर गया। चौड़ी सीढ़ियाँ, एक के बाद एक करके कतारों में उठती गयी हैं, उनके ऊपर आच्छादन है। इन सीढ़ियों की दोनों तरफ फल-फूल, बत्ती, पूजा का अर्घ्य बिक रहा है। बिक्री करनेवालों में अधिकांश ही ब्रह्मदेशीय लड़कियाँ हैं। फूलों के रंग के साथ उनके रेशमी कपड़े का रंग मिल गया है, जिससे मन्दिर की छाया सूर्यास्त के आकाश की तरह विचित्र हो उठी है। खरीदने-बेचने में कोई निषेध नहीं है। मुसलमान दुकान-दार [illegible] बैठे हैं। [illegible] भी विचार नहीं है, [illegible]

चल रहे हैं। संसार के साथ मन्दिर के साथ जरा भी भेद नहीं है, एकदम एक-दूसरे से मिले हुए हैं। केवल, बाजार-दूकानों में जैसा गोलमाल होता है, वही यहाँ नहीं दिखाई पड़ा। चारों तरफ एकान्त नहीं था, फिर भी निभृत था। स्तब्ध नहीं था, किन्तु शान्त था।

हम लोगों के साथ एक ब्रह्मदेशीय बैरिस्टर थे। इस मन्दिर के सोपान पर मछली मांस की खरीद-बिक्री चल रही है, खाना भी चल रहा है, इस कारण उनसे पूछने पर उन्होंने कहा—"बुद्ध देव ने हमें उपदेश दिया है। उन्होंने बता दिया है—किस बात से मनुष्य का कल्याण होता है, किससे वह बन्धन में पड़ता है। उन्होंने तो बल प्रयोग करके किसी की भलाई करना नहीं चाहा। बाहर के शासन से कल्याण नहीं होता। अन्तर की इच्छा से ही मुक्ति होती है। इसीलिए हमारे समाज में या मन्दिरों में आचार-विचार के सम्बन्ध में कोई जबर्दस्ती नहीं है।"

सीढ़ियों से चढ़कर ऊपर पहुँचा। वहाँ खुली जगह थी। वहाँ विभिन्न स्थानों में, तरह-तरह के मन्दिर दिखाई पड़े। उन मन्दिरों में गम्भीरता नहीं थी, कारुकार्य की अधिकता थी, भरमार थी। सब ही मानों लड़कों के खिलौने के समान थे। ऐसा अद्भुत पँच-मिलावट कारोबार और कहीं भी नहीं दिखलाई पड़ता—यह मानों लड़कों को फुसलाने की मनगढ़न्त सवैया-कवित्त की तरह है। उसके छन्दों में रुकावट कहीं नहीं है यह तो ठीक है, किन्तु उसमें यथेच्छ बातें आ गयी हैं। भावों के सम्बन्ध में परस्पर सामंजस्य की कोई जरूरत नहीं है। बहुत पुराने समय के शिल्प के साथ वर्तमान समय के नितान्त भाव की तुच्छता, [illegible] के शरीर के साथ सटी हुई है। भावों की [illegible]

पदार्थ मौजूद है, इस बात को ये लोग मानो बिलकुल ही नहीं जानते। हमारे कलकत्ता नगर में बड़े आदमियों के लड़कों के विवाह में बारात ले जाते समय, रास्ते में जिस तरह सब प्रकार के अद्भुत असामंजस्य की बाढ़ उमड़ती जाती है, केवल पुंजीकरण ही उसका लक्ष्य रहता है, सजावट बढ़ाना नहीं, यहाँ भी ठीक वही दशा थी। एक घर में बहुत से लड़के रहते हैं तो वे जिस तरह गोलमाल करते हैं, उस गोलमाल करने में ही उनको आनन्द मिलता है—उसी तरह इस मन्दिर में सजावट-बनावट, प्रतिमा, नैवेद्य जो भी थे, वे सभी मानो उसी तरह के लड़कों के ही उत्सव थे, इसमें कोई ग्रर्थ नहीं था, केवल शब्द ही थे।

मन्दिर की चूड़ाएं सोने से मढ़ी हुई थीं। पीतल से जड़ी हुई थीं। वे मालूम होती थीं मानों अल्पदेशीय बालक बालिकाओं का आनन्द ही इतना बढ़ गया है कि उसका वह हास्यमिश्रित हो-हो शब्द ही आकाश में तरंगें बनकर उठ गये हैं। मानों इनकी अवस्था अभी विचार करने, गंभीर बनने योग्य नहीं हुई है। यहाँ की इन रंगीन स्त्रियों पर ही सबसे पहले नजर पड़ जाती है। इस देश की शाखा-प्रशाखाओं को परिपूर्ण करके मानो ये फूल बनकर खिल उठी हैं। भूमि पर खिलने वाले चम्पा फूलों की तरह ये ही मानो देश की सब कुछ हैं—और कुछ निगाह में नहीं पड़ता।

लोगों के मुँह से यह बात सुनता रहता हूँ कि, यहाँ के पुरुष आलसी और आराम प्रिय होते हैं, दूसरे देशों में जो काम पुरुष करते हैं, उन प्रायः सभी कामों को यहाँ स्त्रियाँ ही करती हैं। अकस्मात् यह विचार आता है, कि स्त्रियों पर यह [illegible] किया गया है। किन्तु, फल तो इसका [illegible] इन सब कामों के हिसाब से मानो स्त्रियाँ [illegible]

हैं। केवल बाहर निकल पड़ना ही मुक्ति है ऐसी कोई बात नहीं है, निर्भीक रूप से काम करते रहना मनुष्य के लिये उसकी अपेक्षा बड़ी मुक्ति है, पराधीनता ही सबसे बड़ा बन्धन नहीं है, कामों की संकीर्णता ही सबसे कठोर पिंजड़ा है।

यहाँ की स्त्रियाँ उस पिंजड़े से छुटकारा पा गयी हैं, जिससे उन्हें ऐसी पूर्णता और आत्म-प्रतिष्ठा मिल गयी है। वे अपना अस्तित्व लेकर अपने सामने संकुचित नहीं बनी हुई हैं। स्त्रियोचित लावण्य में जिस तरह वे प्रेयसी हैं, शक्ति और गौरव में वे उसी तरह अग्रगामी हैं। इसी कारण जिससे स्त्रियों को यथार्थ श्री मिलती है, उसे सौंताल स्त्रियों को देखकर मैं पहले समझ गया था। वे कठिन परिश्रम करती हैं, किन्तु कारीगर जिस तरह कठिन आघात से मूर्ति को सुव्यक्त कर देता है, उसी तरह इस परिश्रम के आघात से ही सौंताली स्त्रियों का शरीर ऐसा सुगठित, ऐसा सुव्यक्त हो उठता है। उनकी सब प्रकार की गतिभङ्गी में एक ऐसी ही मुक्ति की महिमा प्रकट होती है।

कवि कीट्स ने कहा है—सत्य ही सुन्दर है। अर्थात्, सत्य की बाधामुक्त सुसम्पूर्णता में ही सौन्दर्य है। मुक्ति प्राप्त करने पर सत्य आप ही सुन्दर होकर प्रकाश पाता है। प्रकाश की पूर्णता ही सौंदर्य है। मैं इसी बात का अनुभव उपनिषद् की इस वाणी में करता हूँ— आनन्द रूपममृतं यद् विभाति; अनन्त स्वरूप जहाँ प्रकाश पा रहे हैं, वहाँ ही उनका अमृतरूप है, आनन्द है। मनुष्य भय से, लोभ से, ईर्ष्या से, मूढ़ता से, प्रयोजन की संकीर्णता से इस प्रकाश को आच्छन्न करता है, विकृत करता है, और उस विकृत को ही अनेक समयों में बड़ा नाम देकर विशेष रूप से आदर करता है।

तोसामारू जहाज, २७ वैशाख १३२२

५.

वैशाख की २८ वीं तारीख है। तीसरे पहर को पेनांग बन्दर-गाह में जाने लगा हूँ। हमारे साथ जो बालक आया है, उसका नाम है मुकुल। वह बोल उठा—'स्कूल में एक दिन पेनांग, सिंगापुर कण्ठस्थ करते करते मर रहा था, वही पेनांग सामने है।' तब मेरे मन में विचार उठा कि, स्कूल के मैप में पेनांग देखना जितना सहज था, यह उससे अधिक कठिन है। तब मास्टर, मैप पर अँगुली घुमा कर देश दिखाते थे, यह है जहाज घुमा कर दिखाना।

इस प्रकार के भ्रमण में 'वस्तुतन्त्रता' बहुत सामान्य रहती है। बैठे बैठे स्वप्न देखने की तरह। कोई चेष्टा नहीं करता हूँ, पर आँखों के सामने आप ही आप सब जाग उठते हैं। इन सब देशों को ढूँढ़ने में, इनके रास्तों को ठीक कर रखने में, इसके राह घाटों का को पता बता देने में, अनेक मनुष्यों को अनेक भ्रमण और अनेक दुस्साहस करना पड़ा है। हम लोग मानो उन सब भ्रमणों और दुस्साहसों का बोतल भरा मुरब्बा उपभोग कर रहे हैं। इसमें कोई काँटा नहीं है, छिलका नहीं है, बीज नहीं है, केवल गूदा है, और उसके साथ जितना सम्भव हो सकता है चीनी मिला दी गयी है। अकूल समुद्र फूल फूल उठता है, दिगन्त के बाद दिगन्त का परदा उठता जा रहा है, दुर्गमता की एक प्रकाण्ड मूर्ति आँखों से देख रहा हूँ; फिर भी, अलीपुर के पिंजड़े में रखे हुए सिंह की तरह उसको देखकर खूब आमोद अनुभव कर रहा हूँ। भीषण भी मनोहर बनकर दिखाई पड़ रहा है।

आरब्योपन्यास अलादीन के प्रदीप की बात जब मैंने पढ़ी थी, वह बहुत ही लोभनीय तीत हुई थी। यह तो उसी

मरीच की माया है। जल के ऊपर-स्थल के ऊपर, वहीं मरीच खड़ा जाता है, और अदृश्य दृश्य होता जा रहा है, दूर, निकट आ रहा है। हम लोग एक स्थान में बैठे हुए हैं और जितने स्थान हैं वे ही हमारे सामने आते जा रहे हैं।

किन्तु मनुष्य, मुख्य भाव से फल को ही चाहता है ऐसी बात नहीं है। फलयुक्त बना देना ही उसके लिये सबसे बड़ी चीज है। इसी कारण, यह जो मैं अनुभव कर रहा हूँ, इसके भीतर मन एक अभाव अनुभव कर रहा है। वह यह है कि, हम लोग भ्रमण नहीं कर रहे हैं।

समुद्र मार्ग से हम चले जा रहे थे, कहीं कहीं दूरी दूरी पर एक एक पहाड़ दिखाई पड़ रहा था। नीचे से ऊपर तक पेड़ों से ढका था। मालूम होता था, मानो दानव लोक का कोई बहुत बड़ा जानवर हो, और अपने बूँटेदार हरे रंग के रोएँ लिए समुद्र के किनारे ऊँघते ऊँघते धूप खा रहा है। यह इच्छा है, वास्तव में भ्रमण करने की इच्छा। दूसरे के दिखाये जाने की बन्धन से मुक्त होकर खुद देखने की इच्छा। इन पहाड़ वाले छोटे छोटे द्वीपों का नाम मैं नहीं जानता। स्कूलों के मैपों में उन्हें कण्ठस्थ करना नहीं पड़ा है। दूर से देखने से मालूम होता है कि, वे बिलकुल ही ताजा बने हुए हैं, सरकुलेटिंग लाइब्रेरी की पुस्तकों की तरह मनुष्यों के हाथ हाथ में घूमते घूमते, तरह तरह के चिह्नों से चिह्नित नहीं हो गये हैं। इसीलिए मन को वे खींचते रहते हैं। दूसरों पर मनुष्य को बड़ी ईर्षा रहती है, जिसको और कोई नहीं पा सका है, उसको मनुष्य पाना चाहता है। उससे पाने का परिणाम बढ़ जाता है ऐसी बात नहीं है, किन्तु पा लेने का अभिमान बढ़ जाता है।

जिस समय सूर्य डूब रहा था, तभी पेनांग बन्दरगाह पर हमारा

जहाज पहुँच गया। मालूम हुआ कि वह पृथ्वी बहुत ही सुन्दर है। जल के साथ मानो प्रेम का मिलन मैंने देख लिया। धरणी अपनी बाहुओं को फैलाकर समुद्र को आलिंगन कर रही है। बादलों के भीतर से नीले रंग के पहाड़ों पर जो एक सुकोमल प्रकाश पड़ गया है, वह मालूम होता है मानो सूक्ष्म सुनहले रंग का ओढ़ना है। जल स्थल आकाश मिलकर यहाँ सन्ध्याकाल के स्वर्ण तोरण से स्वर्गीय नौबत बजाने लगा है।

पाल उड़ाकर चलनेवाली समुद्र की नावों की तरह मनुष्य की बनायी हुई और कोई सुन्दर चीज नहीं है। जहाँ प्रकृति के छन्दों से, लयों से, मनुष्य को चलना पड़ा है, वहाँ मनुष्यों की सृष्टि सुन्दर न होकर रह नहीं सकती। नाव को जल-वायु के साथ सन्धि करनी पड़ी है। इसीलिए जलवायु की श्री को वह पा गयी है। यन्त्र जहाँ अपने जोर से प्रकृति की उपेक्षा कर सकती है, वहाँ ही उस औद्धत्य से मनुष्य की रचना कुश्री हो उठने में लज्जा मान नहीं करती। यन्त्र के जहाज में चालक जहाज की अपेक्षा अधिक सुविधा है, किन्तु सौन्दर्य नहीं है। जहाज जब धीरे-धीरे बन्दरगाह के पास आ पहुँचा, जब प्रकृति की अपेक्षा मनुष्य की दुश्चेष्टा बड़े रूप में दिखाई पड़ी, यन्त्र की चिमनियाँ प्रकृति की टेढ़ी भंगिमा के ऊपर अपना सीधा खरोंच लगाने लगीं, तब मैंने देख लिया कि, मनुष्यों के रिपु ने जगत् में कैसा भद्दापन रच डाला है। समुद्र के किनारे-किनारे बन्दरगाहों पर मनुष्य का लोभ कदर्य भंगी से स्वर्ग को व्यंग्य कर रहा है—इसी प्रकार अपने को स्वर्ग से निर्वासित कर रहा है।

तोसामारु। पिनांग बन्दर।

६

जेठ मास की दूसरी तारीख है। ऊपर है आकाश, नीचे है समुद्र। दिन-रात में हमारी आँखों को इससे अधिक कुछ नहीं मिल सकता। हमारी दोनों आँखें मा पृथ्वी का आदर पाकर पेटुक हो गयी हैं। उनकी थाली में तरह-तरह की चीजें जुटा रखने की जरूरत है। उनमें से अधिकांश को वह स्पर्श भी नहीं करतीं, फेंक दिया जाता है। कितना नष्ट हो रहा है, बताया नहीं जा सकता। देखने की चीज हम अतिरिक्त परिमाण में पाते हैं इसी-लिए देखने की चीज हम पूर्ण रूप से नहीं देखते। इसलिए कभी-कभी हमारी पेटुक आँखों के लिए इस तरह का उपवास अच्छा है।

हमारे सामने आज के बहुत बड़े दो फल हैं—आकाश और सागर। अभ्यास दोष से पहले ऐसा मालूम होता है मानो ये दोनों एकदम शून्य थाल हैं, उसके बाद दो-एक दिन उपवास के बाद कुछ भूख बढ़ जाने से ही हम देख पाते हैं कि, जो कुछ है, वह एकदम कम नहीं है। बादल धीरे-धीरे नये-नये रंग से सरस होकर आ रहा है, प्रकाश रह-रहकर नये-नये स्वाद ले, आकाश को और जल को पूर्ण करता जा रहा है।

हम लोग दिन-रात पृथ्वी की गोद में बगल में रहते हैं इसी-लिए आकाश की ओर हम नहीं ताकते, आकाश के दिगम्बर को हम कहते हैं उच्छृंखल। जब बहुत दिनों तक उस आकाश के साथ [illegible] होकर रहता है, तब उसके परिचय की विचित्रता [illegible] में रहते हैं। वहाँ बादल बादल में, रूप और रंग का [illegible] खिलना रहता है। यह मानो गान के आलाप की तरह है। मानो रूप-रंग की राग-रागिनी का आलाप चल रहा है—ताल

नहीं है—आकार-आयतन का कोई बन्धन नहीं है, कोई अर्थ-विशिष्ट वाणी नहीं है, केवल मुक्त सुर की लीला है। उसके साथ समुद्र का अप्सरा नृत्य है और मुक्त छन्द का नाच है। उसके मृदङ्ग में जो बोल बज रहा है उसका छन्द ऐसा विपुल है कि, उसका ताल ढूँढ़ने पर नहीं मिलता। उसमें नृत्य का उल्लास है, फिर भी नृत्य का नियम नहीं है।

इस विराट रंगशाला में आकाश और समुद्र का जो रंग है उसे देखने की शक्ति धीरे-धीरे हमारी बढ़ जाती है। जगत् में जो कुछ महान् है, उसके चारों तरफ एक विरलता है। उसकी पट भूमि का (background) सीधा सादा है। वह अपने को दिखाने के लिए और किसी की सहायता नहीं लेना चाहती। निशीथ की नक्षत्र-सभा असीम अन्धकार के अवकाश में अपने को प्रकाश करती है। इस समुद्र आकाश का जो वृहत् प्रकाश है, वह भी बहु उपकरणों के द्वारा अपनी मर्यादा नष्ट नहीं करता। ये लोग हैं जगत् के बड़े उस्ताद, छल कपट से हमारे मन को भुलाने में वे अवश करते हैं। मन को श्रद्धापूर्वक आप ही आप अग्रसर होकर इनके पास जाना पड़ता है। मन जब तरह-तरह के भोगों से जीर्ण [illegible] और 'अन्यथावृत्ति' हो जाता है, तब इन उस्तादों का आलस उसके लिए अत्यन्त खोखला होता है।

हम लोगों के लिए सुविधा यह हुई है कि, हमारे पास और कुछ भी नहीं है। पहले जब-जब विलायती यात्री जहाज से मेरी समुद्र यात्रा हुई थी, तब यात्री लोग ही एक दृश्य थे। वे लोग नाच-गान, खेल और गोलमाल से अनन्त को आच्छन्न रखते थे। एक क्षण को भी वे लोग खोखला छोड़ रखना नहीं चाहते थे। इसके सिवा सजावट 'बनावट' [illegible]

जहाज के डेक के साथ समुद्र आकाश की कोई प्रतियोगिता नहीं है। यात्रियों की संख्या बहुत थोड़ी है। हमलोग ही चार यात्री हैं। बाकी दो-तीन धीर प्रकृति के मनुष्य हैं। इसके सिवा ढीले-ढाले वेश में ही हम सोते हैं, जागते हैं, खाने जाते हैं, किसी को कोई आपत्ति नहीं है। इसका प्रधान कारण यह है कि, कोई ऐसी महिला नहीं है, जिनको हम लोगों की अपरिच्छिन्नता से असम्भ्रम हो सकता है।

इसी कारण प्रतिदिन हमलोग यह समझ रहे हैं कि, जगत् में सूर्योदय और सूर्यास्त साधारण बात नहीं है, उसकी अभ्यर्थना के लिए स्वर्ग में, मर्त्यलोक में, राजकीय समारोह है। प्रातःकाल पृथ्वी अपना घूँघट खोलकर खड़ी हो जाती है, उसकी वाणी तरह-तरह के सुरों में जाग उठती है, सन्ध्या को स्वर्गलोक की यवनिका उठ जाती है, और द्युलोक अपनी ज्योति, रोमाञ्चित निःशब्दता के द्वारा पृथ्वी के सम्भाषण का उत्तर देती है। स्वर्ग-मर्त्य का यह आमने सामने चलनेवाला आलाप कितना गम्भीर और कितना महीयान है, इस आकाश और समुद्र के बीच खड़ा होकर इसे हमलोग समझ सकते हैं।

दिगन्त से हम देख पाते हैं कि बादल विभिन्न भङ्गियों में, आकाश में उठते जा रहे हैं, मानो सृष्टिकर्त्ता के आँगन के आकार-फव्वारे का मुख खुल गया है। वस्तु प्रायः कुछ भी नहीं है केवल आकृति है, किसी के साथ किसी का मेल नहीं है। तरह-तरह के आकार हैं, केवल सीधी लाइन नहीं है। सीधी लाइन मनुष्य के हाथ के काम की है। उसके [illegible] सीमाओं में, उसके कारखाने की इमारत की भित्तियों में [illegible] बिलकुल ही सीधा [illegible] रेखा जीवन की रेखा है। मनुष्य सरलता से

उसको आयत्त नहीं कर सकता । धीमी रेखा जड़ रेखा है, वह सहज ही मनुष्य का शासन मानती है, वह मनुष्य का बोझ ढोती है, मनुष्य का अत्याचार सहती है ।

जिस तरह आकृति विचित्र प्रकार की होती है, उसी तरह रंग भी होते हैं । रंग कितने प्रकार के हो सकते हैं, उनकी संख्या नहीं है । रंग की तान उठ रही है । तान के ऊपर तान है । उसमें मेल भी जैसा है, उसमें बेमेल भी वैसा ही है, वे विरुद्ध नहीं हैं, तो भी विचित्र हैं । रंगों के समारोह में भी जिस तरह प्रकृति का विलास है, रंग की शान्ति में भी वैसा ही है । सूर्यास्त के समय पश्चिम आकाश जहाँ रंगों का ऐश्वर्य, पागल की तरह दोनों हाथों से बिना प्रयोजन के ही फैला रहा है, वह भी जैसा आश्चर्यजनक है, पूर्व आकाश में जहाँ शान्ति और संयम है वहाँ भी रंग की कोमलता और अपरिच्छेद्य गंभीरता उसी तरह आश्चर्यजनक है । प्रकृति के हाथ से अपर्याप्त भी जिस प्रकार सहज हो सकता है पर्याप्त भी उसी तरह हो सकता है । सूर्यास्त और सूर्योदय के समय प्रकृति अपने दायें बायें एक ही समय में उसे दिखा देती है, उसका अपव्यय और [illegible] एक ही समय चलते रहते हैं, फिर भी कोई किसी की [illegible] पर आघात नहीं करता ।

उसके सिवा, रंग की आभा-आभा में [illegible] कह सकता है, उसका वर्णन किस तरह करूँ ! [illegible] में रंगों का जो गत बजाता रहता है, उसमें [illegible] असंख्य रहती है ।

समुद्र आकाश गीतिनाट्य-लीला में रुद्र का प्रकाश दिखाई पड़ा है, यह बात पहले ही बता चुका हूँ । [illegible] डमरू बजाकर अट्टहास्य में एक और भंगी में [illegible]

काल आकाश में सर्वत्र नीला मेघ छा गया और धुएँ के रंग का मेघ स्तर स्तर में चक्कर काटते हुए उठ पड़े। मूसलाधार वृष्टि होने लगी। बिजली हमारे जहाज के चारों तरफ अपनी तलवार नचाती हुई घूमने लगी। उसके पीछे पीछे वज्र का गर्जन होने लगा। एक वज्र ठीक हमारे सामने जल के ऊपर गिर पड़ा। जल से एक वाष्प-रेखा सर्प की तरह फुफकारती हुई ऊपर उठ पड़ी। एक और वज्र हमारे सामने के मस्तूल पर आ गिरी। मानो रुद्र, स्विटजरलैण्ड के इतिहास विख्यात वीर विलियम टेल की तरह अपनी अद्भुत धनुर्विद्या का परिचय दे गये। मास्तूल की नोक पर उनका बाण जा लगा। हम लोगों को उसने स्पर्श नहीं किया। इस तूफान में हमारे साथ चलने वाले एक दूसरे जहाज का मस्तूल चूर्ण हो गया है यह खबर मैंने सुनी। मनुष्य बचा रहता है, इसी में आश्चर्य है।

७

इधर कई दिनों से आकाश और समुद्र की तरफ पूर्ण दृष्टि से देख रहा हूँ और मन में यह विचार उठ रहा है कि अनन्त का रंग तो शुभ्र नहीं है, वह काला है, अथवा नीला है। यह आकाश थोड़ी दूर तक आकाश अर्थात् प्रकाश है, उतने अंश तक वह सफेद है। उसके बाद वह अव्यक्त है, उसी जगह से वह है नील। प्रकाश वहीं तक है जितनी दूर तक सीमा का राज्य है। उसके बाद ही असीम अन्धकार है। इस असीम अन्धकार की छाती के ऊपर इस पृथ्वी का [illegible] जो दिया है वह मालूम होता है, मानो कौस्तुभ मणि [illegible] रहा है।

प्रकाश की यह दुनिया, यह गौरांगी, अपनी विचित्र रंग की पोशाक पहिने अभिसार को जा रही है—उस काले की तरफ, उस अनिर्वचनीय अव्यक्त की तरफ। निर्धारित नियमों से बँधी रहने के ही कारण उसका मरण है। वह कुल को ही सर्वस्व मानकर चुपचाप बैठी नहीं रह सकती। वह कुल खोकर बाहर निकल पड़ी है। यह बाहर निकल जाना ही विपद की यात्रा है। रास्ते में काँटे हैं, रास्ते में साँप हैं, रास्ते में आँधी-पानी है—समस्त को अति-क्रम करके विपद की उपेक्षा करके, वह जो चली जा रही है, वह उसका चलना है, केवल उसी अव्यक्त असीम के आकर्षण से। अव्यक्त की तरफ, "और" की तरफ, प्रकाश की कुल डुबानेवाली यह अभिसार यात्रा है—प्रलय के भीतर से, विप्लव के कंटकमय पथ से पग-पग पर रक्त का चिह्न करके यह यात्रा होती है।

किन्तु, क्यों चलती है, किस तरफ चलती है, उस तरफ तो पथ का चिह्न नहीं है। कुछ भी तो दिखाई नहीं पड़ता? नहीं, दिखाई नहीं पड़ता, सब अव्यक्त रहता है। शून्यता तो नहीं है, फिर भी उसी तरफ से बाँसुरी का सुर आ रहा है। हम लोगों का चलना, यह तो आँखों से देखकर चलना नहीं है, यह तो सुरके खिंचाव से चलना है। जिसको आँखों से देखकर चलता हूँ वह तो बुद्धिमान का चलना है, उसका हिसाब है, उसका प्रमाण है, वह घूम-घूम कर कुल के भीतर ही चलना है। उस चलने में कुछ भी अग्रसर नहीं होता। और, बाँसुरी सुनकर जो चलता हूँ, उस चलने में, मरने-जीने का ज्ञान नहीं रहता, उसी पागल सरीखे चलने में ही लगातार आगे बढ़ता जा रहा है। इस चलने को विघ्न के भीतर से, आपदों के भीतर से चलना पड़ता है। कोई नजीर मकान को सामने होते ही उसे ठिठक कर खड़ा हो जाना पड़ता है। [illegible]

विरुद्ध हजार प्रकार की युक्तियाँ हैं। उन युक्तियों का खण्डन तर्कों द्वारा नहीं किया जा सकता। उसके इस चलने में केवल एक कैफियत है। वह कहता है—"उस अँधियारी के भीतर से बाँसुरी मुझे बुला रही है।" नहीं तो कोई क्या साध करके अपनी सीमा को लाँघ कर जा सकता है। जिस तरफ से उस मनोहरण अँधकार की बाँसुरी बज रही है, उसी तरफ ही मनुष्यों की समस्त आराधना है, समस्त काव्य है, समस्त शिल्प कला है, समस्त वीरत्व है, समस्त आत्मत्याग मुँह फेरे हुए हैं। उस तरफ देखने से ही मनुष्य राज्य-सुख को जलांजलि देकर, विरागी होकर बाहर निकल गया है, मरण को माथे पर चढ़ा लिया है, उस काले को देखकर मनुष्य भूल गया है। उस काले की ही बाँसुरी से मनुष्य उत्तर मेरु और दक्षिण मेरु की ओर आकर्षित होता है। अनुवीक्षण, दूरवीक्षण का रास्ता चलकर मनुष्य का ज्ञान दुर्गम के मार्ग में घूमता-फिरता है, बार-बार मरते-मरते समुद्र पार का रास्ता निकाल लेता है। बार-बार मरते-मरते आकाश पार के पंखों को फैलाता रहता है।

मनुष्यों में जो सब महाजातियाँ कल्याणिनी हैं, वे ही आगे बढ़ रही हैं, भय के भीतर से अभय में, विपद के भीतर से सम्पद में, जिनको सर्वनाशक काल की बाँसुरी नहीं सुनाई पड़ी, वे केवल पोथियों की नजीरें जमा करके कुल को पकड़कर बैठे रहे, वे केवल शासन मानने के लिए हैं। उन लोगों ने क्यों व्यर्थ इस आनन्द-लोक में जन्म ग्रहण किया है; जहाँ सीमा को काटकर असीम के साथ नित्यलीला ही है जीवनयात्रा, जहाँ विधान बनाते रहना ही है विधि।

फिर, इस विपरीत दिशा से देखने लगता हूँ तो दिखाई पड़ता है, वही काला अनन्त अपनी शुभ्र ज्योतिर्मयी आनन्द मूर्ति को

तरफ आ रहे हैं। असीम की साधना इस सुन्दरी के लिए है, इसीलिए उनकी बाँसुरी विराट अन्धकार के भीतर से इस तरह व्याकुल होकर बज रही है। असीम की साधना इस सुन्दरी को नयी-नयी मालाओं से नये सिरे से सजा रही है। वह काला इस रूपसी को एक क्षण अपनी छाती से उतार कर नहीं रख सकते, क्योंकि यह तो उनकी परम सम्पदा है। छोटे के लिए बड़े की यह साधना कैसी असीम है, यह फूलों की पंखुड़िया पंखुड़ियों में, पत्तियों के पंख पंख में, बादलों के रंग रंग में, मनुष्यों के हृदय के अपरूप लावण्य में, प्रति क्षण पकड़ा जा रहा है। रेखा रेखा में, रंग रंग में, रस रस में, तृप्ति का कोई अन्त नहीं है। यह आनन्द किसलिए है?—अव्यक्त व्यक्त के भीतर केवल अपने को प्रकाशित कर रहे हैं, अपने को त्याग करते करते आपसा पा रहे हैं।

यह अव्यक्त यदि केवल नहीं मात्र, शून्य मात्र, होता तो उस हालत में प्रकाश का कुछ अर्थ नहीं होता, तो उस स्थिति में विज्ञान की अभिव्यक्ति केवल एक शब्दमात्र ही होती। व्यक्त यदि अव्यक्त का ही प्रकाश न होता तो उस हालत में जो कुछ है वह निष्फल बना रहता, केवल और कुछ की तरफ अपने को बना न बना देता। इस और कुछ की तरफ ही समस्त जगत् का आनन्द क्यों है। इस अनजान और कुछ की बाँसुरी सुनकर ही वह कुल त्याग क्यों करती है। उस तरफ शून्य नहीं है इसीलिए इसी तरफ वह पूर्ण का अनुभव करती है। इसीलिए उपनिषद् कहते हैं—भूमैव सुखं, भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः। इसीलिए तो सृष्टि की यह लीला देख रहा हूँ, प्रकाश आगे बढ़ता जा रहा है, अन्धकार के अकूल पर, अन्धकार उतर कर आ रहा है, प्रकाश के कूल पर।

प्रकाश का मन भूल गया है कालों के ऊपर, काले का मन भूल गया है प्रकाश पर।

मनुष्य जब जगत को नहीं की तरफ से देखता है तब उसका रूपक बिलकुल ही उलट जाता है। प्रकाश की एक उलटी पीठ है। वह है प्रलय। मृत्यु के भीतर से खुले हुए प्राण का विकास हो ही नहीं सकता। हाँ उसके भीतर दो चीजों को रहना ही चाहिये, जाना और होना। होना ही है मुख्य, जाना ही है गौण।

किन्तु मनुष्य यदि उलटी ही पीठ पर नजर रखे, और कहे सब ही जा रहा है, कुछ भी नहीं रहता—यह—जगत् विनाश का ही प्रतिरूप है, समस्त ही माया है, जो कुछ देख रहा हूँ, यह सब ही नहीं है—तो उस हालत में इस प्रकाश के रूप को ही वह काला बनाकर, भयंकर बनाकर देखता है। तब वह देखता है, यह काला कहीं भी आगे नहीं बढ़ रहा है, केवल ही निर्लिप्त है, यह कालिमा उनकी छाती के ऊपर मृत्यु की छाया की तरह चंचल होकर घूम रही है, किन्तु स्तब्ध का स्पर्श करने में समर्थ नहीं हो रही है।

यह कारण दृश्यतः है, किन्तु वस्तुतः नहीं है। और, जो केवल हैं, वे स्थिर हैं, उनका प्रलयरूपिणी न रहना उनको लेशमात्र विक्षुब्ध नहीं करता। यहाँ प्रकाश के साथ काले का वही सम्बन्ध है, रहने के साथ न रहने का जो सम्बन्ध है। काले के साथ प्रकाश के आनन्द की लीला नहीं है। यहाँ योग का अर्थ प्रेम का योग नहीं है, ज्ञान का योग है। दो के योग से एक नहीं है, एक के ही भीतर एक है। मिलने में एक नहीं है, प्रलय में एक है।

इस बात को कुछ और स्पष्ट करने की चेष्टा करूँ।

एक मनुष्य व्यापार कर रहा है। वह क्या कर रहा है? वह अपने मूलधन को, अर्थात् जो सम्पदा उसे प्राप्त है, उसको मुनाफा

अर्थात् सम्पदा जो प्राप्त नहीं है, उसकी तरफ भेज रहा है। जो सम्पदा मिल गयी है वह है सीमाबद्ध और व्यक्त, जो सम्पदा मिली नहीं है वह है असीम और अव्यक्त। मिली हुई सम्पदा समस्त विपद् को स्वीकार करके न मिली हुई सम्पदा के अभिसार में जा रही है। जो सम्पदा नहीं मिली है वह अलब्ध और अदृश्य है जरूर, किन्तु उसकी बाँसुरी बज रही है। वह बाँसुरी है भूमा की बाँसुरी। जो वणिक् उस बाँसुरी को सुनता है, वह बैंक में जमा किये गये कम्पनी के कागजों का कुल त्याग कर सागर-पर्वत लाँघकर निकल पड़ता है। यहाँ मैं क्या देख रहा हूँ। नहीं मिली हुई सम्पदा के साथ न मिली हुई सम्पदा का एक लाभ का योग है। इस योग के दोनों ही तरफ आनन्द है। क्योंकि, इस योग से मिला हुआ, न मिले हुए को पा रहा है, और जो नहीं मिला है वह मिली हुई चीजों में क्रमागत रूप से अपने को ही पा रहा है।

किन्तु, यह विचार करके देख लिया जाय कि, एक डरपोक मनुष्य वणिक् के खाते में उस खर्च की तरफ का हिसाब ही देख रहा है। वणिक् केवल अपने मिले हुए रुपये को खर्च करता चला जा रहा है, उसका अन्त नहीं है। उसका शरीर सिहर उठता है। वह कहता है, यही तो प्रलय है। खर्च के हिसाब के काले आँकड़े रक्तलोलुप जीभ हिलाकर केवल नृत्य कर रहा है। जो खर्च हो रहा है, अर्थात् वस्तुतः जो नहीं है, वही बड़ी-बड़ी अंक-वस्तुओं का आकार धारण करके खाते में भरकर बढ़ता ही जा रहा है। इसको ही तो कहते हैं माया। वणिक् मोहित होकर इस माया-अंक के बराबर बढ़नेवाली शृंखला को तोड़ नहीं सकता। इस स्थान में मुक्ति क्या है उन सचल आँकड़ों को बिलकुल ही लुप्त करके खाते के निश्चल निर्विकार शुभ्र कागज में निरापद और निरञ्जन

४

होकर स्थिरत्व प्राप्त करना। देने और पाने में जो एक आनन्दमय सम्बन्ध है, जिस सम्बन्ध के अस्तित्व के कारण मनुष्य दुस्साहस के मार्ग में यात्रा करके मृत्यु के बीच से विजय प्राप्त करता है, और मनुष्य उसको देख नहीं सकता। इसीलिए वह कहता है—

मायामय निर्मोखलें दिला
ब्रह्मपदं प्रविशातु विदिशा।

तोसामारू। चीन समुद्र
५ जेठ १३२३

मैंने सुना था कि फारस के राजा जब इंग्लैण्ड गये थे तब हाथ से खाने के प्रसङ्ग में उन्होंने अंग्रेजों से कहा था—"काँटा चम्मच से तुम लोग खाते हो तो इससे तुम लोग खाने के आनन्द से वंचित रहते हो।" जो लोग घटकों के प्रयत्न से विवाह करते हैं, वे कोर्टशिप के आनन्द से वञ्चित रहते हैं। हाथ से खाते समय जब खाद्यवस्तु को स्पर्श किया जाता है तभी उस खाद्य के साथ कोर्टशिप आरम्भ हो जाता है। अँगुली के अग्र भाग से स्वाद ग्रहण करना शुरू हो जाता है।

उसी प्रकार जहाज से ही मेरा जापान का स्वाद लेना शुरू हो गया है। यदि फ्रांसीसी जहाज पर चढ़कर मैं जापान जाता तो उस हालत में अँगुलियों के अग्र भाग से परिचय आरम्भ नहीं होता।

इसके पहले अनेक बार विलायती जहाज पर चढ़कर मैं समुद्र यात्रा कर चुका हूँ। इस जहाज का उन जहाजों से बहुत फर्क है। उन जहाजों के कप्तान बहुत जबरदस्त कप्तान थे। यात्रियों के साथ

खाना-पीना, हँसी-मजाक उनका बन्द रहता था, ऐसी बात नहीं है, किन्तु उनकी कप्तानी खूब चमकदार लाल रंग की होती थी। कितने ही जहाजों से मैं भ्रमण कर चुका हूँ, किन्तु उनमें से किसी भी कप्तान की याद मुझे नहीं पड़ती। क्योंकि, वे केवल जहाज के अंग-विशेष थे। जहाज को चलाने के ही कार्य के द्वारा उनके साथ हमारा सम्बन्ध था।

सम्भवतः यदि मैं यूरोपीय रहता, तो उस हालत में, मुझे यह अनुभव करने में विशेष बाधा न होती कि, वे कप्तान के सिवा और कुछ हैं, मनुष्य हैं। किन्तु इस जहाज में भी मैं विदेशी हूँ। एक यूरोपीय के लिए भी मैं जो हूँ, एक जापानी के लिए भी मैं वही हूँ।

जब से मैं इस जहाज पर चढ़ा हूँ, तभी से देख रहा हूँ, कि हम लोगों के कप्तान की कप्तानी जरा भी दृष्टिगोचर नहीं होती, वे बिलकुल ही सहज मनुष्य हैं। जो लोग उनके निम्नस्थ कर्मचारी हैं उनके साथ उनका कामों का सम्बन्ध है और दूरत्व है, किन्तु यात्रियों के साथ कुछ भी नहीं है। प्रचण्ड आँधी-पानी में भी उनके कमरे में मैं गया, सहज सुन्दर भाव दिखाई पड़ा। बातचीत में, व्यवहार में, उनके साथ हमारी जो घनिष्ठता हो गयी वह कप्तान की हैसियत से नहीं, मनुष्य की हैसियत से। हमारी यह यात्रा समाप्त हो जायगी, उनके साथ जहाज में चलने का हमारा सम्बन्ध दूर हो जायगा, किन्तु उनकी याद हमारे मन में बनी रहेगी।

हमारे कैबिन का स्टुवार्ड भी अपने काम-काज की सीमा में ही कठोर बना नहीं रहता। हम आपस में बात-चीत करते रहते थे तो उसके बीच ही वह आ जाता था और टूटी फूटी अंग्रेजी में हमारे साथ वार्तालाप में शामिल होने में संकोच अनुभव नहीं

करता था। मुकुल चित्र बना रहा था, तो आकर खाता खोलकर उसमें चित्र बनाने लगा।

हमारे जहाज के खजांची एक दिन आकर बोले—मेरे मन में अनेक विषयों के प्रश्न आते हैं, तुम्हारे साथ उन पर विचार करने की इच्छा है। किन्तु मैं अंग्रेजी इतना कम जानता हूँ, कि बात चीत करके आलोचना करना मेरे लिए सम्भव नहीं है। तुम यदि कुछ ख्याल न करो, तो मैं कभी कभी कागज पर अपने प्रश्नों को लिखकर आप के सामने लाऊँ। तुम अवसर के अनुसार संक्षेप में दो चार बातों में उनका उत्तर लिख देना। इसके बाद से राष्ट्र के साथ समाज का क्या सम्बन्ध है, इसी के बारे में उनके साथ मेरा प्रश्नोत्तर चल रहा है।

किसी दूसरे जहाज का खजांची ऐसे प्रश्नों के बारे में मानसिक संचालन करता है, अथवा अपने कामों के बीच ऐसे उपसर्ग उपस्थित करता है, ऐसा मैं सोच नहीं सकता। इन लोगों को देखकर मेरे मन में विचार उठता है, कि ये लोग नवीन जाग्रत जाति के हैं। ये लोग सभी बातों को नये सिरे से जानने और नये सिरे से सोचने को उत्सुक हैं, इनका मनोभाव, आइडिया के सम्बन्ध में मानो उसी प्रकार है।

इसके सिवा एक और विशेषता यह है, कि एक तरफ हैं जहाज के यात्री और दूसरी तरफ हैं जहाज के कर्मचारी। इन दोनों के बीच की सीमा कोई बहुत कठिन नहीं है। मैं इस खजांची के प्रश्नों का उत्तर लिखने लगूँगा, यह बात मन में लाने में उसे जरा भी रुकावट नहीं पड़ी—"मैं दो बातें सुनना चाहता हूँ, तुम दो बातें कहोगे, इसमें अड़चन ही क्या है। मनुष्य के ऊपर मनुष्य का जो दावा है, उस दावे को सरल भाव से उपस्थित करने से मन में आप ही

आप कुछ बोलने की इच्छा होती है, इसीलिए अपनी शक्ति के अनुसार मैंने इस आलोचना में भाग लिया।

एक और चीज पर मेरी दृष्टि विशेष रूप से पड़ी है। मुकुल अभी बालक ही है, वह डेक का पसेंजर है। किन्तु जहाज के कर्मचारी बिना हिचक के उसके साथ मित्रता कर रहे हैं। किस तरह जहाज चलाते हैं; किस तरह समुद्र में रास्ता पहचानते हैं, किस तरह ग्रह-नक्षत्रों का पर्यवेक्षण करते हैं, इन सब बातों को अपने कामों को करते समय ही उसे लोग समझाते हैं। इसके सिवा अपने काम काज, आशा भरोसा के बारे में भी उसके साथ वे बात चीत करते हैं। मुकुल को शौक हुआ कि जहाज के इंजिन का संचालन देखेगा। कल रात के समय ग्यारह बजे वे लोग उसे जहाज की पाताल-पुरी में ले गये। एक घण्टे में सब कुछ दिखाकर ले आये।

कामों के सम्बन्ध में भीतर भी मनुष्य के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध रहता है, यही सम्भवतः हम पूर्व देशवासियों की विशेषता है। पश्चिम देश के लोग कामों को खूब बड़ाई के साथ सामने ला रखते हैं, वहाँ मानव-सम्बन्ध का दावा पहुँच नहीं सकता। उससे काम खूब पक्का होता है, इसमें सन्देह नहीं है।

मैंने सोचा था, जापान ने तो यूरोप से कामों की दीक्षा ली है, इसलिए उसके कामों की सीमा भी शायद पक्की है। किन्तु इस जापानी जहाजों में काम देख रहा हूँ, काम की सीमा नहीं देख रहा हूँ। मालूम होता है कि, अपने ही मकान में हूँ, कम्पनी के जहाज में नहीं हूँ। फिर भी सफाई, धुलाई आदि जहाज के नित्य कर्मों में कोई त्रुटि नहीं है।

प्राच्य देशों में मानव समाज के जितने सम्बन्ध हैं वे विचित्र

और गंभीर हैं। हमारे जो पूर्व पुरुष मर चुके हैं, उनके साथ भी हमारा सम्बन्ध छिन्न नहीं होता। हम लोगों की आत्मीयता का जाल बहुत दूर तक फैला हुआ है। इन तरह तरह के सम्बन्धियों के कारण जो तरह तरह के दावे सामने आते हैं, उनको पूरा करने में हम लोग चिरकाल से अभ्यस्त हैं, इसीलिए हमें आनन्द मिलता है। हमारे नौकर-चाकर भी केवल वेतन से सम्बन्ध नहीं रखते, वे आत्मीयता का दावा करते हैं। इसीलिए जहाँ काम अत्यन्त कठोर रहता है, वहाँ हमारी प्रकृति को कष्ट मिलता है। बहुधा अंग्रेज मालिक के साथ देशी कर्मचारी का मेलजोल टिकने नहीं पाता, उसका कारण यही है। अंग्रेज मालिक देशी कर्मचारी की माँगों को समझ नहीं सकता, और देशी कर्मचारी अंग्रेज मालिक के कामों का कड़ा शासन समझ नहीं सकता। कर्मशाला का मालिक केवल मालिक ही बना रहेगा, ऐसी बात नहीं है, वह माँ-बाप बनेगा, ऐसी ही आशा देशी कर्मचारी अपने चिरकाल के अभ्यासवश रखता है। जब इसमें उसे बाधा मिलती है तो वह आश्चर्य में पड़ जाता है और मन-ही-मन मालिक को दोष दिये बिना नहीं रह सकता। अंग्रेज कामों के दावों को मानने में अभ्यस्त हैं, देशी मनुष्य मानवोचित दावों को मानने में अभ्यस्त है। इसी कारण दोनों पक्षों में अच्छी तरह मेलजोल नहीं होने पाता।

किन्तु यह बात मन में लाये बिना रहा नहीं जा सकता कि, कामों का सम्बन्ध और मनुष्यों का सम्बन्ध इन दोनों में विच्छेद न होकर सामञ्जस्य रहना ही आवश्यक है। किस तरह सामञ्जस्य हो सकता है, उसका बँधा नियम बाहर से ठीक नहीं किया जा सकता। [illegible] प्रकृति के जीवन से स्थापित होता है। हमारे [illegible] होना कठिन

है, क्योंकि जो लोग हमारे कामों के मालिक हैं, उनके ही नियमों के अनुसार हम काम चलाने को बाध्य हैं।

जापान ने पाश्चात्य से कामों की शिक्षा प्राप्त की है। किन्तु कामों के मालिक वे लोग स्वयं ही हैं। इसीलिए मन के भीतर एक आशा होती है कि, सम्भवतः जापान में पाश्चात्य कामों के साथ प्राच्य के भाव का सामञ्जस्य उठ सकता है। यदि ऐसी बात हो, तो वही पूर्णता का आदर्श हो जायगा। शिक्षा की प्रथम अवस्था में जब अनुकरण का नशा कड़ा रहता है, तब विधि-विधान में छात्र, गुरु की अपेक्षा और भी कड़ा हो जाता है। किन्तु भीतर की प्रकृति धीरे-धीरे अपना काम करती है, और शिक्षा के फीके अंशों को अपने ऊष्णता से पिघलाकर अपना बना लेती है। इसीलिए पश्चिम की शिक्षा जापान में कौन-सा आकार धारण करेगी, उसे स्पष्ट रूप से देख लेने का समय अभी तक नहीं हुआ है। सम्भवतः अब हम लोग प्राच्य-पाश्चात्य का बहुत सामञ्जस्य देख सकेंगे, जो श्रीहीन होगा। हमारे देश में भी पग-पग पर वही दिखाई पड़ता है। किन्तु प्रकृति का काम ही है, जितने असामञ्जस्य हैं उनको दूर कर देना। जापान में वही काम चल रहा है इसमें सन्देह नहीं है। कम-से-कम, इस जहाज की थोड़ी-सी जगह में मैं तो इन दोनों भावों के मिलन का चिह्न देख पाता हूँ।

६

जेठ की दूसरी तारीख को हम लोगों का जहाज सिंगापुर पहुँच पाया। थोड़ी ही देर बाद एक जापानी [illegible] आये। वे यहाँ के एक जापनी समाचार के [illegible]

मुझसे कहा—"हमारे जापान के सबसे बड़े दैनिक पत्र के सम्पादक के पास से हमें तार मिला है कि, आप जापान जा रहे हैं। उक्त सम्पादक ने आप से एक वक्तृता कबूल करने का अनुरोध किया है। मैंने कहा—'जापान पहुँचने के पहले इस सम्बन्ध में मैं अपनी सम्मति न दे सकूँगा।' उस समय के लिए इतने में ही बात टल गयी। हमारे युवक अंग्रेज मित्र पियर्सन और मुकुल शहर देखने निकल पड़े। जहाज बिलकुल घाट पर लग गया है। इस जहाज के घाट की अपेक्षा बड़ी खिचखिच दूसरी नहीं है। इसी अवस्था में घने बादल छा गये। विकट खड़ खड़ शब्दों के साथ जहाज से माल चढ़ाने-उतारने का काम चलने लगा। मैं आलसी मनुष्य ठहरा। कमर बाँधकर शहर देखने के लिए निकल पड़ना मेरे स्वभाव में नहीं है। मैं उस समय साइक्लोन की गड़बड़ी के बीच डेक पर बैठा रहा और किसी तरह मन को शान्त कर रखने के लिए लिखने के लिए बैठ गया।

थोड़ी देर बाद कप्तान ने आकर खबर दी कि, एक जापानी महिला मेरे साथ मुलाकात करना चाहती हैं। मैं लिखना छोड़ कर एक अंग्रेजी वेशधारिणी जापानी महिला के साथ वार्तालाप करने लगा। वे भी उस जापानी सम्पादक का पक्ष लेकर वक्तृता करने के लिए मुझसे अनुरोध करने लगीं। बड़े कष्ट से मैंने उस अनुरोध को टाल दिया। तब उन्होंने कहा—'आप यदि जरा शहर घूम आने की इच्छा करें तो आपको सब दिखला सकती हूँ।' तब वस्तु उठाने के निरन्तर शब्द मेरे मन को जाँते की तरह पीस रहे थे। कहीं भाग जाने से प्राण रक्षा हो यही विचार मन में उठ रहा था। तब उस महिला की मोटर पर सवार होकर शहर छोड़ मैं रबर वृक्षों के बीच से, ऊँच नीच पहाड़ों के रास्ते से, बहुत दूर

तक घूम आया। ज़मीन कहीं ऊँची कहीं नीची है, घास खूब हरे रंग की है। रास्ते के पास एक गन्दे जल का सोता कलकल शब्दों के साथ टेढ़ा मेढ़ा होकर दौड़ता चला जा रहा है। जल के बीच २ कई बेंतों की झाड़ियाँ भींग रही हैं। रास्ते के दोनों तरफ बगीचे हैं। शाहबाद पर चीनियों की ही संख्या अधिक है। यहाँ के सभी कामों में वे शामिल हैं।

गाड़ी जब शहर में आ गयी, तब उक्त महिला अपनी जापानी चीजों की दूकानपर मुझे ले गयी। उस समय सन्ध्या हो चुकी थी। मन-ही-मन सोच रहा था, जहाज पर सन्ध्याकालीन भोजन का मेरा समय हो गया है। किन्तु वहाँ उन शब्दों को आँधी से वस्तें उठ रहे हैं, गिर रहे हैं, इसकी कल्पना करके किसी तरह भी लौटने की इच्छा नहीं हो रही थी।

उक्त महिला ने हमें एक छोटे से कमरे में बिठाया। उन्होंने एक थाल में फल सजाकर मुझसे और मेरे अंग्रेज साथी से खाने का अनुरोध किया। फलाहार हो जाने के बाद उन्होंने धीरे-धीरे अनुरोध किया, यदि आपको कोई आपत्ति न हो तो आप लोगों को होटल में ले जाकर भोजन करा लाऊँ। उनके इस अनुरोध को हम टाल न सके। रात को प्रायः दस बजे वे हमें जहाज में पहुँचा कर विदा होकर चली गयीं!

इस महिला के इतिहास में कुछ विशेषता है। इसके पति जापान में कानून व्यवसायी थे। किन्तु वह व्यवसाय यथेष्ट लाभजनक नहीं था। इसीलिए आय-व्यय का सामञ्जस्य होना कठिन हो गया था। स्त्री ने ही पति से प्रस्ताव किया—'आओ, हम लोग कोई रोजगार करें।' पति पहले इस प्रस्ताव से नाराज हो गये। उन्होंने [illegible] 'हमारे वंश में

किसी ने व्यवसाय नहीं किया, यह तो हम लोगों के लिए एक हीन काम है।'

अन्त में स्त्री के अनुरोध से ये राजी हो गये। तब दोनों ने सिंगापुर आकर दुकान खोल दी। आज से अठारह वर्ष पहले की बात है। आत्मीय मित्र सभी ने एक स्वर से कहा—इस बार ये लोग डूब जायेंगे। पर इस स्त्री के परिश्रम से, नैपुण्य से, व्यवहार की कुशलता से, धीरे-धीरे व्यवसाय की उन्नति होने लगी। गत वर्ष इनके पति की मृत्यु हो गयी। अब इनको अकेले ही सब काम चलाना पड़ रहा है।

वस्तुतः, इस व्यवसाय को इस स्त्री ने ही अपने हाथ से खड़ा किया है। मैं जो बात कह रहा था उसका ही प्रमाण इस व्यवसाय में दिखाई पड़ता है। मनुष्य का मन समझना और मनुष्य के साथ सम्बन्ध रक्षण करना स्त्रियों का सिद्ध स्वभाव है। इस स्त्री में हमें उसी का परिचय मिला है। इसके सिवा कार्यकुशलता स्त्रियों का स्वाभाविक गुण है। पुरुष स्वभावतः आलसी होते हैं। बाध्य होकर उनको काम करना पड़ता है। महिलाओं में प्राणों की प्रचुरता है, जिसका स्वाभाविक विकास है कर्मपरायणता। कामों की सभी छोटी-छोटी बातों को वे केवल सह ही नहीं सकतीं, बल्कि उनमें उन्हें आनन्द मिलता है। इसके अतिरिक्त देना-पावना के सम्बन्ध में बहुत ही सावधान रहती हैं। इसीलिए जिन कामों में शारीरिक या मानसिक साहस की जरूरत नहीं पड़ती, उन कामों को स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक अच्छाई के साथ कर सकती हैं, ऐसा ही मेरा विश्वास है।

हमारे देश में इसके बहुत से प्रमाण मौजूद हैं कि पति ने जहाँ अपने दुर्व्यवहार से गृहस्थी को छार-खार कर दिया है, वहाँ पति

की अनुपस्थिति में घर के इन्तजाम का भार स्त्री के हाथ में पड़ जाने से, सुव्यवस्था के कारण सब कुछ बच गया है। सुनने में आता है कि, फ्रान्स की स्त्रियों ने भी व्यवसाय में अपनी कर्म-निपुणता का परिचय दिया है। जिन सब कामों में उद्भावना का दरकार नहीं, जिन कामों में पटुता, परिश्रम और लोगों के साथ व्यवहार ही सबसे जरूरी है, वे सब काम स्त्रियों के हैं।

जेठ की तीसरी तारीख को हमारा जहाज छूटा। ठीक इस छूटने के समय एक बिल्ली जल में गिर गयी। तब सब व्यस्तता को हटाकर इस बिल्ली को बचाना ही प्रधान काम हो गया। तरह-तरह के उपायों से, तरह-तरह की युक्तियों से बिल्ली निकाली गयी। उसके बाद जहाज छोड़ा गया। इससे जहाज छूटने का निर्दिष्ट समय बीत गया। इस घटना से मुझे बहुत आनन्द मिला।

तोसामारू जहाज
चीन सागर
८ जेठ १३२३

१०

समुद्र के ऊपर से हमारे दिन, पालवाली नाव की तरह बहते हुए चले जा रहे हैं। यह नाव किसी घाट पर जानेवाली नाव नहीं है। उसमें माल नहीं लादे गये हैं। केवल तरंगों के साथ, हवा के साथ, आकाश के साथ आलिंगन-मिलन करने के लिए वे निकल पड़ी हैं। मनुष्यों का लोकालय मनुष्य के विरह का प्रतिद्वन्द्वी है। चन्द्रमा ने जिस तरह अपना एक मुख सूर्य की तरफ घुमा रखा है, उसका दूसरा मुख अन्धकार है, इसी तरह लोकालय के प्रबन्ध

आकर्षण से मनुष्य की उसी तरफ की पीठ पर ही चेतना का समस्त प्रकाश जाग रहा है, एक दूसरी दिशा को हम भूल ही गये हैं। यह विश्व मनुष्य के लिए कितना है, इसका हमें ख्याल नहीं होता।

सत्य को हम जिस ओर भूल जाते हैं, केवल उसी तरफ नुकसान होता है ऐसी बात नहीं है, वह नुकसान सब तरफ ही है। विश्व को मनुष्य जिस परिमाण में जितना छोड़ कर चलता है, उसके नुकसान का ताप और कलुष उसी परिमाण में उतना बढ़ जाता है। इसीलिए क्षण क्षण में मनुष्य का बिलकुल ही विपरीत दिशा में आकर्षण होता है। वह कहता है—'वैराग्यमेवाभयं—वैराग्य के लिए कोई बला नहीं है। वह बोल उठता है—यह संसार कारागार है। मुक्ति ढूँढ़ने के लिए, शान्ति ढूँढ़ने के लिए वह वन में, पर्वतों में समुद्र तट पर दौड़ जाता है। मनुष्य ने संसार के साथ विश्व का विच्छेद उपस्थित किया है इसीलिए बड़े रूप में प्राणों का निश्वास लेने के लिए उसको संसार छोड़कर विश्व की तरफ जाने की जरूरत पड़ती है—मनुष्यकी मुक्ति का रास्ता मनुष्य के पास से दूर है।

जब हम लोकालय के बीच रहते हैं, तब हम अवकाश नामक चीज से डरते हैं। क्योंकि लोकालय नामक चीज एक ठोस चीज है, उसके भीतर जो खोखला है वही खोखला है। उस खोखले भाग को किसी तरह बन्द करने के लिए हमें मदिरा चाहिये, ताश, शतरंज चाहिए, राजा वजीर को मारना चाहिए—नहीं तो समय नहीं कटता। अर्थात् समय को हमलोग नहीं चाहते, समय को हम छोड़ देना चाहते हैं।

किन्तु अवकाश है विराट का सिंहासन। असीम अवकाश में

है विश्व की प्रतिष्ठा। जहाँ बृहत है, वहाँ अवकाश खोखला नहीं है, बिलकुल ही परिपूर्ण है! संसार में जहाँ हम बृहत् को नहीं रखते, वहाँ अवकाश खोखला है। विश्व में जहाँ बृहत् विराजमान है वहाँ अवकाश गम्भीर भाव से मनोहर है। शरीर पर कपड़ा न रहने से मनुष्य को जिस तरह लज्जा होती है, संसार में उसी तरह हमें अवकाश लज्जा देता है। क्योंकि वह है शून्य, इसीलिए उसे हम लोग जड़ता कहते हैं, आलस्य कहते हैं—किन्तु जो सच्चा सन्यासी है उसके लिए अवकाश में लज्जा नहीं है क्योंकि उसका अवकाश है पूर्णता, वहाँ उलङ्गता नहीं है।

इस लोकालय के मनुष्य अब जहाज पर चढ़कर यात्रा कर रहे हैं। इस बार हम लोग कुछ दिनों के लिए विश्व की तरफ मुँह घुमा सके हैं। सृष्टि की जिस पीठ पर बहुतों की ठेला-ठेली और भीड़ लगी रहती है, उस तरफ से जिस पीठपर एक का आसन रहता है उस तरफ हम आ गये हैं। हम देख रहे हैं, यह जो नीला आकाश है, और नीला समुद्र का विपुल अवकाश है, यह मानों अमृतपूर्ण घट है।

अमृत—यह तो शुभ्र प्रकाश की तरह परिपूर्ण एक है। शुभ्र प्रकाश में बहुवर्णच्छटा एक से मिल गयी है, [illegible] रस बहुरस, एक में मिलकर निविड़ हो गया है। [illegible] जिसतरह, तरह तरह के वर्णों से विचित्र है, संसार में उसी तरह यही एक रस तरह तरह के रसों में विभक्त है। इसीलिए अनेक को [illegible] जानने के लिए इसी एक को साथ ही साथ जान लेना होता है। [illegible] है, उस डाल [illegible]

संसार में एक तरफ आवश्यक की भीड़ रहती है, दूसरी तरफ अनावश्यक की। आवश्यक का दायित्व हमें ढोना ही पड़ेगा, उसमें आपत्ति करने से काम न चलेगा। जिस तरह घर में रहने के लिए दीवाल के बिना काम नहीं चलता, यह भी वैसी ही बात है। किन्तु सब कुछ ही तो दीवाल नहीं है। कमसे कम कुछ तो खिड़की रहती है, उस खाली अंश के द्वारा हम लोग आकाश के साथ आत्मीयता की रक्षा करते हैं। किन्तु संसार में हम यह देखते हैं कि, लोग उस खिड़की को सह नहीं सकते। उस खाली अंश को भर देने के लिए बहुत प्रकार की आवश्यकताओं का सृष्टि होती है। उस खिड़की पर फालतू काम होते हैं, निरर्थक चिट्ठियाँ लिखी जाती हैं, निरर्थक सभाएँ होती हैं, निरर्थक वक्तृताएँ होती हैं, निरर्थक बातों के द्वारा दस आदमी मिलकर उस खाली अंश को भर देते हैं। नारियल के छिलकों की तरह, इस अनावश्यक का ही परिमाण अधिक रहता है। घर बाहर में, धर्म कर्म में, आमोद प्रमोद में, सभी विषयों में इसका ही अधिकार सबसे बड़ा रहता है। इसका काम ही है खाली अंश को बन्द करते हुए घूमते रहना।

किन्तु, वास्तविक बात यह है कि, खाली अंश को बन्द न करना। क्योंकि, खाली अंश के बिना पूर्ण को प्राप्त नहीं किया जा सकता। खाली अंश के ही भीतर से प्रकाश आता है, हवा आती है। किन्तु प्रकाश, हवा, आकाश तो मनुष्य की बनायी हुई चीज नहीं है, इसीलिए लोकालय यथाशक्ति उनके लिए जगह रखना नहीं चाहता। इसी कारण आवश्यक को छोड़कर जितना बचा रह जाता है, उतने को अनावश्यक के द्वारा एकदम ठसाठस भर दिया जाता है। इसी प्रकार मनुष्य ने अपने दिनों को एक दम ठोस बना दिया है, रात्रि को भी वह जितना भर सकता है उतना भर देता

है। यह देखने से मालूम होता है मानो कलकत्ते की म्युनिसिपैलिटी का कानून हो। वहाँ जितनी पोखरियाँ हैं, उनको भर देना होगा, कूड़ा-करकट से हो या जिस तरह से भी हो। यहाँ तक कि गंगा को भी जहाँ तक हो सकता है कूलों के दबाव से, जेटियों के दबाव से, जहाजों के दबाव से उसका गला दबाकर मार डालने की चेष्टा चल रही है। लड़कपन का कलकत्ता याद पड़ता है। ये पोखरियाँ ही आकाश की संगिनी थीं, शहर के उन्हीं जगहों, द्युलोक, भूलोक में जरा कदम रखने का स्थान पाता था। वहाँ ही आकाश के प्रकाश का आतिथ्य करने के लिए पृथ्वी ने अपने जल के आसनों को बिछा रखा था।

आवश्यक की एक सुविधा यह है कि, उसकी एक सीमा है। वह सम्पूर्ण बेताला नहीं हो सकता। वह दस-चार को स्वीकार करता है, उसके लिए त्योहारों की छुट्टियाँ हैं, वह रविवार को मानता है, इसलिए रात्रि को वह यथाशक्ति इलेक्ट्रिक लाइट से एकदम हँसकर उड़ा देना नहीं चाहता। क्योंकि वह जितना समय लेता है, उसका दाम आयु से, अर्थ से चुका देना पड़ता है। सहज ही में उसका अपव्यय कोई नहीं कर सकता। किन्तु अनावश्यक को ताल का बोध नहीं रहता। वह समय को उड़ा देता है, असमय को टिकने नहीं देता। वह सदर रास्ते से प्रवेश करता है, पिछवाड़े के रास्ते से प्रवेश करता है, फिर खिड़की के रास्ते से प्रवेश करता है। वह सारे दरवाजों पर ठोकर लगाता है, छुट्टी के [illegible] आता है, रात को नींद नोच देता है। [illegible] नहीं है, इसलिए उसकी व्यस्तता [illegible] [illegible] है।

आवश्यक कामों का परिमाण स्थूल है। अनावश्यक कामों का [illegible]

परिमाण नहीं रहता, इसी कारण अपरिमेय के आनन्द को यह लक्ष्मीहीन ही ढँक लेता है, उसको ठेलकर उठाना कठिन हो जाता है। तभी मन में यह भाव उठता है, देश छोड़कर भाग जाऊँ, संन्यासी बनकर निकल जाऊँ, संसार में अब टिका नहीं जाता।

जाने दो, ज्यों ही बाहर निकल पड़ा हूँ, त्योंही समझ गया हूँ कि, विराट विश्व के साथ हम लोगों का जो आनन्द का सम्बन्ध है, उसको दिन-रात अस्वीकार करने में कोई बहादुरी नहीं है। यहाँ के आईने में मानो मुझे अपने चेहरे की छाया दिखाई पड़ी। 'मैं हूँ' यह बात गली में, घरद्वारों में, फूट-फूटकर विकृत होकर दिखाई पड़ती है। इस बात को समुद्र के ऊपर, आकाश के ऊपर, पूर्णरूप से फैलाकर देख लेने से ही हम उसका अर्थ समझ सकते हैं। तब आवश्यक को पार करके, अनावश्यक को अतिक्रमण करके, आनन्द लोक में उसकी अभ्यर्थना हम देख पाते हैं। तब हम स्पष्ट रूप से समझते हैं ऋषियों ने क्यों मनुष्य को 'अमृतस्य पुत्राः' कहकर आह्वान किया था।

११

उस खिदिरपुर के घाट से शुरू करके इस हांकांग बन्दर के घाट तक, सर्वत्र जितने बन्दरगाह रास्ते में दिखाई पड़े, उन सभी में मैं वाणिज्य का चेहरा देखता आया हूँ। वह कितना बड़ा है, इसको कोई स्वयं अपनी आँखों से देखे बिना समझ नहीं सकता। वह केवल बहुत बड़ा ही नहीं है, बहुत बड़ा जबरदस्त है। 'कवि कंकण चण्डी' में व्याध के आहार का जो वर्णन है उसकी याद आ रही है। वह एक एक ग्रास में एक एक ताल निगल रहा है, उसका भोजन

उत्कट है, उसका शब्द उत्कट है—इस वाणिज्य का भी वही हाल है। वह वाणिज्य व्याघ्र भी, हँसते फूलते एक एक पिण्ड मुँह में जिस तरह डाल रहा है, उसे देखने से भय मालूम होता है। उसको विराम नहीं है और उसकी आवाज भी विचित्र है। लोहे के हाथ से मुँह में डाल रहा है, लोहे के दाँत से चबा रहा है, लोहे के पाक यन्त्र में चिरप्रदीप्त जठरानल में हजम कर रहा है और लोहे की शिरा उपशिरा के भीतर से अपने जगद्व्यापी कलेवर का, सोने का, स्रोत सर्वत्र चालान कर रहा है।

इसको देखने से मालूम होता है कि यह एक जानवर है। यह मानों पृथ्वी के प्रथम युग के दानव-जन्तुओं की श्रेणी का है। केवल उसकी पूँछ का आयतन देखने से शरीर काँप उठता है। इसके सिवा अभी तक इसका निश्चय नहीं हो सका है कि, वह जलचर है, स्थलचर है या पक्षी है। वह कुछ सर्प की तरह है, कुछ चम-गादड़ की तरह है, कुछ गैंडे की तरह है, अङ्ग-सौष्ठव कहने से जो कुछ समझ में आता है, उसका कुछ भी चिह्न उसके शरीर में कहीं भी नहीं है। उसके शरीर का चमड़ा अत्यन्त मोटा है। उसका पंजा जहाँ पड़ता है वहाँ पृथ्वी के शरीर का कोमल चमड़ा उखड़ जाता है, [illegible] निकल जाती है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] आवाज [illegible] कि, [illegible] [illegible] इसके सिवा [illegible] [illegible] [illegible] सुराख [illegible] [illegible] वह [illegible] [illegible] नहीं है—[illegible] खा रहा है—[illegible]

किन्तु जगत् के प्रथम युग के ये सब दानव टिक न सके। उनकी विपुलता अपरिमित रही। वहीं पग पग पर उनके विरुद्ध गवाही देने लगी। जिसका फल यह हुआ कि विधाता की अदालत में विचारार्थ पेश होने पर उन्हें फाँसी की सजा दे दी गयी। सौष्ठव नामक जो चीज है, वह केवल सौन्दर्य का ही प्रमाण नहीं देता, वह उपयोगिता का भी प्रमाण देता है। जब उसका बोलना गरजना बहुत अधिक दिखाई पड़ता है, जब हम आयतन में केवल शक्ति देखते हैं श्री नहीं देखते, तब अच्छी तरह हम समझ सकते हैं कि, विश्व के साथ उसका सामञ्जस्य नहीं है। विश्व शक्ति के साथ उसकी शक्ति का संघर्ष निरन्तर होता रहेगा, और एक दिन उसे अपनी हार मानकर बागडोर छोड़कर छूट ही जाना पड़ेगा। प्रकृति का गृहिणीपन ऐसा है कि वह कभी कदर्य अमिताचार को सह ही नहीं सकता। उसका भाटा आ जाने में देर नहीं है। वाणिज्य-दानव अपनी विरूपता से अपने प्रकाण्ड भटके के बीच अपना प्राणदण्ड ढो रहा है। एक समय ऐसा आ है, रहा जब पुरातत्वविद् गण हमारे युग के स्तरों के भीतर से लोहे के कंकालों का आविष्कार कर उस सर्वत्र भक्षणकारी दानव की अद्भुत विषमता के बारे में विस्मय प्रकट करेंगे।

प्राणी जगत् में मनुष्य की जो योग्यता है, वह उसकी देह की प्रचुरता के कारण नहीं है। मनुष्य का चमड़ा नरम है। उसके शरीर का बल थोड़ा है। उसकी इन्द्रिय शक्ति पशुओं की अपेक्षा कम ही है, ज्यादा नहीं। किन्तु उसको एक ऐसा बल मिल गया है, जो आँखों से दिखाई नहीं पड़ता, जो जगह नहीं छेकता, जो किसी जगह पर ठहरे बिना ही सारे जगत में [illegible] अधिकार बढ़ा रहा है। मनुष्य की देह-परिधि, [illegible]

बाइबल में लिखा है, जो नम्र है, वही पृथ्वी पर अधिकार करेगा। इसका अर्थ यही है कि, नम्रता की शक्ति बाहर नहीं है, भीतर है। जो जितना ही कम आघात देता है वह उतना ही विजयी होता है। वह युद्ध क्षेत्र में लड़ाई नहीं करता। अदृश्य लोक में विश्व शक्ति के साथ सन्धि करके विजयी होता है।

वाणिज्य दानव को भी एक दिन अपनी दानव-लीला को छोड़ कर मानव बनना पड़ेगा। आज इस वाणिज्य का अस्तित्व कम है, इसके पास हृदय तो बिलकुल ही नहीं है। इसी कारण वह पृथ्वी पर केवल अपना भार बढ़ाता जा रहा है। वह केवल प्राणपण से अपनी शक्ति लगाकर अपने आयतन को बढ़ाना चाहता है और उसीसे जीतना चाहता है। किन्तु एक दिन जो विजयी होगा उसका आकार छोटा ही होगा। उसकी कार्य प्रणाली सहज होगी। वह मनुष्य के हृदय को, सौन्दर्यबोध को, धर्म बुद्धि को, मानता है। वह है नम्र, वह है सुश्री, वह कुत्सित भावना से लुब्ध नहीं है। उसकी प्रतिष्ठा अन्तर की सुव्यवस्था में है, बाहर के आयतन में नहीं है। वह किसी को वञ्चित करके बड़ा नहीं है, वह सबके साथ सन्धि करके बड़ा है। आज कल के युग में पृथ्वी में, मनुष्यों के सभी अनुष्ठानों में इस वाणिज्य का अनुष्ठान सबसे अधिक कुरूप है। अपने भार के द्वारा वह पृथ्वी को क्लान्त कर रहा है, अपने शब्द के द्वारा वह पृथ्वी को बधिर बना रहा है। अपनी आवर्जना के द्वारा वह पृथ्वी को मलिन बनाता जा रहा है। अपने लोभ के द्वारा वह पृथ्वी को आहत कर रहा है। पृथ्वीव्यापी यह जो कुरूपता है, रूप, रस, शब्द, गन्ध, स्पर्श; और मानव हृदय के विरुद्ध जो यह विद्रोह चल रहा है, लोभ को विश्व के राज्यसिंहासन पर बैठाकर उसके पास दासता का दस्तावेज लिखता रहा है, यह सब प्रतिदिन

ही मनुष्य के श्रेष्ठ मनुष्यत्व को आघात कर रहा है, इसमें सन्देह नहीं है। मुनाफे के नशे में उन्मत्त होकर इस विश्वव्यापी द्यूतक्रीड़ा में मनुष्य अपने को समर्पण करके कितने दिन खेलता रहेगा? इस खेल को तोड़ना ही पड़ेगा। जिस खेल के कारण मनुष्य लाभ उठाने के लोभ में पड़कर अपना नुकसान करता रहता है, यह तो कभी चलने वाला नहीं है।

जेठ मास की नवीं तारीख है। बादल, वर्षा, कुहरे से आकाश धुँधला बना हुआ है। हांकांग बन्दरगाह के पहाड़ दिखाई पड़ रहे हैं। उनके ऊपर से झरने का जल झर रहा है। मालूम होता है कि, दैत्यों का दल है। समुद्र में डुबकी लगा, सबने भीगे मस्तक जल के ऊपर उठा रखे हैं। उनकी जटा से, दाढ़ी से जल झर रहा है। एण्ड्रूज साहब कहते हैं यह दृश्य मानो पहाड़ों से घिरी हुई स्काटलैण्ड की झील की तरह है। ठीक वहाँ जैसे बने हुए छोटे-छोटे पहाड़ हैं, वैसे ही यहाँ भी हैं, वैसे ही भीगे कम्बल की तरह आकाश में बादल छाये हुए हैं, वैसे ही कुहरों का, चिथड़े से कुछ पोंछ डाली गयी-सी मूर्ति जल-स्थल की बन गयी है।

कल सारी रात आँधी-पानी का जोर रहा। कल बिछौने को मेरा भार ढोना नहीं पड़ा। मैं ही बिछौने को ढोता हुआ डेक के इस छोर से उस छोर तक आश्रय ढूँढ़ता रहा। आधी रात के बाद ढाई पहर रात बीत जाने पर, इस बरसात के [illegible] करने की चेष्टा न करके उसको प्रसन्न मन से [illegible] मैं [illegible] होकर इस वर्षा के साथ ही [illegible] 'सावन की धारा-सी झरने दो [illegible]

साथ होनेवाली इस लड़ाई में इस मर्त्यवासी को ही हार मान लेनी पड़ी। मुझे इतना बल कहाँ मिल सकता है, और मेरे कवित्व का नशा जितना ही प्रबल क्यों न हो, वायु से भी बलिष्ठ आकाश के साथ मैं कैसे लड़कर टिक सकता हूँ।

कल रात को ही जहाज के बन्दरगाह पर पहुँच जाने की बात थी, किन्तु इस जगह समुद्रवाही जल का स्रोत प्रबल हो उठा और वायु भी विरुद्ध हो गयी इसलिए पग-पग पर देर होने लगी। स्थान भी संकीर्ण और संकटमय था। कप्तान सारी रात जहाज के ऊपर वाले तख्ते पर रहकर सतर्कता से रास्ते का हिसाब-किताब करते हुए जा रहे थे। आज प्रातःकाल भी वर्षा बन्द नहीं हुई। सूर्य दिखाई नहीं पड़ा, इसलिए रास्ता ठीक पहचानना कठिन हो गया। कभी-कभी घंटी बज जाती थी। आज सवेरे भोजन की मेज पर कप्तान दिखाई नहीं पड़े। कल आधी रात को बरसाती कोट पहनकर एक बार नीचे उतर आये और मुझसे यह बता गये कि, डेक के किसी तरफ भी सोने की सुविधा न होगी, क्योंकि वायु बदल रही है।

इसी समय एक काम देखकर मेरे मन में बड़ा आनन्द हुआ। जहाज के ऊपर से एक चमड़े के मैले रस्सी के सहारे किसी समय समुद्र का जल खींचा जाता था। कल तीसरे पहर को मुकुल को अकस्मात् इसका कारण जान लेने की इच्छा हुई। वह उसी क्षण ऊपर के तख्ते पर चढ़ गया। उस ऊपरी तख्ते पर ही जहाज के पतवार का चक्का था, और पथ-निर्णय के सभी यन्त्र भी वहाँ थे। यात्रियों को वहाँ जाने का निषेध था। मुकुल जिस समय वहाँ गया, उस समय वहाँ [illegible] मुकुल ने उनसे प्रश्न किया। [illegible]

समुद्र में बहुत से स्रोतों की धारा बहती है। उनके उत्ताप का परि-माण स्वतन्त्र है। कभी कभी समुद्र का जल खींचकर तापमान द्वारा उसकी जाँच करके धारा-पथ का निर्माण करना आवश्यक है। धारा दिखाने वाला नक्शा निकाल कर वे दिखाने लगे कि, उन धाराओं के गतिवेग के साथ जहाज के गतिवेग भी किस तरह काटाकाटी होती है। इससे भी जब सुविधा नहीं हुई तब उन्होंने बोर्ड पर खड़िया मिट्टी से लकीर-नक्शा खींचकर इस विषय को यथा सम्भव सरल बना दिया।

विलायती जहाज में मुकुल की तरह बालक के लिए यह कार्य किसी तरह भी सम्भव नहीं होता। वहाँ उसको अत्यन्त सीधे रूप में अफसर समझा देता कि उस जगह आना उसके लिए निषिद्ध है। वास्तव में जापनी अफसर का सौजन्य काम के नियमों के विरुद्ध था। किन्तु मैं पहले ही बता चुका हूँ कि इस जापानी जहाज में कार्यों के नियमों के भीतर से मनुष्य की गतिविधि है। फिर भी नियमों को दब जाना नहीं पड़ा, यह भी मैंने बार बार देखा है। जहाज जिस समय बन्दरगाह पर था, जब ऊपरी तल्ले का काम बन्द था, तब वहाँ बैठकर काम करने के लिए मुझे कप्तान की सम्मति मिल गयी थी। उस दिन पियर्सन साहब ने अंग्रेजी में बातचीत करने के इच्छुक दो सज्जनों को जहाज पर बुलाया था। डेक के ऊपर माल असबाब उठाने रखने की आवाज से हमलोगों ने प्रस्ताव किया कि, ऊपर के तल्ले पर चलना ठीक होगा। मैंने प्रधान अफसर से इस सम्बन्ध में उनकी सम्मति पूछी तो, उन्होंने उसी दम कहा—'नहीं।' क्योंकि वह ऊपर काम बन्द था। किन्तु नियम भंग होने की एक सीमा है। वह सीमा मित्र के लिए जहाँ है अपरिचित के लिए वहाँ नहीं है। ऊपर के तल्ले के व्यवहार के लिए सम्मति मिलने से

मुझे जैसी खुशी हुई थी, उसमें बाधा पड़ने से भी वैसी ही खुशी हुई। स्पष्ट ही मुझे दिखाई पड़ा कि, इसमें उदारता है, किन्तु दुर्बलता नहीं है।

बन्दरगाह पर पहुँचने के साथ ही जापान से कई अभ्यर्थना के पत्र और टेलिग्राम आ गये। कुछ देर बाद प्रधान अफसर ने आकर मुझसे कहा—इस बार की यात्रा में आप लोग शंघाई नहीं जा सकते, यहाँ से सीधे जापान ही जाना पड़ेगा। मैंने पूछा—क्यों? उन्होंने कहा—जापान निवासी आपकी अभ्यर्थना करने के लिए तैयार हुए हैं, इसीलिए हमारे सदर आफिस से टेलिग्राम से आदेश आया है कि किसी दूसरे बन्दरगाह पर देर न करके जापान ही चला जाना होगा। शंघाई का सब माल हम लोग यहीं उतार देंगे। दूसरे जहाज से वहाँ भेज दिया जायगा।

यह खबर मेरे लिए जितना ही गौरवजनक क्यों न रहा हो, यहाँ लिखने की कोई आवश्यकता नहीं थी। किन्तु लिखने का कारण मेरे लिए यह है कि, इस विषय की कुछ विशेषता है। उसकी आलोचना होनी चाहिये। यह फिर एक ही बात है। अर्थात्, व्यवसाय का दावा साधारणतः जिस पत्थर की दीवाल को खड़ी करके आत्मरक्षा करता है, वहाँ उसके बीच से भी मानव-सम्बन्ध के गमनागमन का रास्ता है। और वह रास्ता कम चौड़ा नहीं है।

जहाज यहाँ दो दिन ठहरेगा। इन दो दिनों के लिए शहर में जाकर होटल में टिकने का प्रस्ताव मुझे अच्छा नहीं लगा। मेरी तरह आलसी मनुष्य के लिए आराम की अपेक्षा [illegible] अच्छा है। मेरा मतलब यह है कि [illegible] है, [illegible] में कोई झगड़ा नहीं है। [illegible] [illegible] ऐसी बात नहीं है।

पहले ही मेरी नजर जहाज के घाट पर के चीनी मजदूरों के काम पर जा पड़ी। वे नीले रंग का पायजामा पहने हुए थे, शरीर नंगा था। ऐसा शरीर मैंने कहीं नहीं देखा था, ऐसा काम भी नहीं देखा था। एकदम सुगठित शरीर है, लेशमात्र अतिरिक्त भाग उसमें नहीं है। कामों के ताल-ताल में समूचे शरीर की मांसपेशी केवल तरंगावत् शोभा दे रही है। बड़े-बड़े बोझ उठा लेने का अभ्यास इनका ऐसा जबर्दस्त हो गया है कि, उसे देखने से आनन्द होता है। माथे से लेकर पैरों तक कहीं भी अनिच्छा, अवसाद या जड़ता का लेशमात्र लक्षण मुझे नहीं दिखाई पड़ा। बाहर से उनको उत्साह देने की कोई जरूरत नहीं है। उनके शरीर के वीणायन्त्र से काम मानो संगीत की तरह बज उठता है। जहाज के घाट पर माल उतारने-चढ़ाने का काम देखने में मुझे इतना आनन्द होगा, यह बात मेरे मन में कभी उदित नहीं हुई थी। पूर्ण शक्ति का काम बहुत ही सुन्दर होता है। उसके प्रत्येक आघात से शरीर सुन्दर बनता जाता है, और वह शरीर काम को भी सुन्दर बना देता है। इसी जगह कामों का काव्य और मनुष्य के शरीर का छन्द मेरे सामने विस्तृत होकर दिखाई पड़े। यह बात मैं जोरदार शब्दों में कह सकता हूँ कि, उन लोगों के शरीर की अपेक्षा किसी भी स्त्री का शरीर सुन्दर नहीं हो सकता, क्योंकि, शक्ति के साथ सुषमा की ऐसी विशुद्ध संगति स्त्रियों के शरीर में अवश्य ही दुर्लभ है। हमारे जहाज के ठीक सामने ही एक दूसरे जहाज पर तीसरे पहर को अपने कामकाज कर चुकने के बाद, सभी चीनी मल्लाह जहाज के डेक के ऊपर कपड़े खोल कर स्नान कर रहे थे। मनुष्य के शरीर की कैसी मनोहर शोभा हो सकती है, यह मैंने इस तरह पहले कभी नहीं देखा था।

काम की शक्ति, काम की निपुणता और काम के आनन्द को इस तरह पूँजीभूत भाव से एकत्र देख लेने से मैं मन-ही-मन समझ गया कि, इस बृहत् जाति में कितनी शक्ति समूचे देश में संचित हो रही है। यहाँ मनुष्य पूर्ण परिमाण में अपने को प्रयोग करने के लिए बहुत दिनों से तैयार है। जिस साधना के द्वारा मनुष्य अपने को आप ही सोलहों आना व्यवहार करने की शक्ति पा जाता है, उसकी कृपणता दूर हो जाती है, अपने आप को किसी अंश में धोखा नहीं देता। यह साधना बहुत बड़ी है। बहुत दिनों से चीन ने इस साधना से, पूर्ण भाव से काम करना सीखा है। उसी काम में उसकी अपनी शक्ति उदार भाव से अपनी मुक्ति और आनन्द पा रही है—यह एक परिपूर्णता का चित्र है। चीन में यह शक्ति मौजूद है इसीलिए अमेरिका चीन से डर रहा है। कामकाज के उद्यम में वह चीन को जीत नहीं सकता। अपने शारीरिक बल से वह उसको दबा रखना चाहता है।

यह जो इतनी बड़ी शक्ति है, वह जब आधुनिक काल का वाहन पा जायगी अर्थात् जब विज्ञान उसके वश में हो जायगा, तब संसार में ऐसी कौन शक्ति रहेगी जो उसके आगे रुकावट डाल सके? तब उसके कर्मों की प्रतिभा के साथ उसके आचरणों का योग-साधन हो जायगा। वर्तमान काल में जो सब राष्ट्र पृथ्वी की सम्पदा का उपभोग कर रहे हैं, वे चीन के उस अभ्युत्थान से डरते हैं, उस अभ्युत्थान के दिन को वे रोक रखना चाहते हैं। किन्तु जिस जाति में, जिस तरह, जिस परिमाण में बड़ी होने की शक्ति है, उस तरह उसके उसी परिमाण में बड़ी होने से [illegible] रोकने की प्रवृत्ति जिन स्वजाति पूजा के अहंकार के [illegible] लगा हुई है, उनकी सभ्यता की सर्वनाशकारिणी पूजा मन्दिर में

और कुछ भी नहीं है। सुनते हैं कि जगत् में ऐसी भी बर्बर जातियाँ हैं, जो अपने देश के देवताओं को तुष्ट करने के लिए परदेश के मनुष्यों को बलि देते हैं। आधुनिक काल में जो स्वजातीयता चल पड़ी है वह उसकी अपेक्षा बहुत भयंकर चीज है। वह अपनी भूख मिटाने के लिए एक-एक जाति, एक-एक देश हड़प लेने का दावा करती है।

हमारे जहाज की बायीं तरफ चीन की नावों का झुण्ड है। इन नावों में पति-पत्नी और लड़के-लड़कियाँ मिलकर रहते हैं और काम काज कर रहे हैं। काम की यह छवि ही मुझे सबसे सुन्दर मालूम हुई। काम की यह मूर्ति ही चरम मूर्ति है। एक दिन इनकी ही विजय होगी। यदि यह न हो, वाणिज्य दानव यदि मनुष्य की घर गृहस्थी, स्वाधीनता, सभी को निगलता हुआ चलता रहेगा, तो और एक वृहत् दास-सम्प्रदाय को तैयार कर देगा, उसकी ही सहायता से थोड़े से लोगों को आराम पहुँचाता रहेगा, और अपनी स्वार्थसिद्धि में लगा रहेगा तो उस हालत में यह पृथ्वी रसातल में चली जायगी। ये लोग स्त्री-पुरुष बालक सभी मिलकर जिस तरह काम में लगे रहते हैं, उसका चित्र देखकर मेरी लम्बी साँस निकलने लगी। भारत वर्ष में यह चित्र मैं किस दिन देख सकूँगा। वहाँ तो मनुष्य अपने बारह आने को धोखा देकर समय बिता रहा है। नियमों का जाल ऐसा बन गया है कि, उसमें मनुष्य बार बार फँस जाता है, लिपट जाता है, विघ्न में पड़कर अपनी अधिकांश शक्ति को फजूल खर्च कर डालता है और बाकी अधिकांश को काम में नहीं लगा सकता। ऐसी विफल जटिलता और जड़ता का समावेश संसार में और कहीं भी नहीं है। चारो तरफ एक जाति के साथ दूसरी जाति का विच्छेद है, नियमों के

साथ कर्मों का विरोध है, आचार-धर्म के साथ काला-धर्म का द्वन्द्व है।

लोसा मारू जहाज

चीन समुद्र

१३

आज जेठ मास की सोलहवीं तारीख है। आज जहाज जापान के 'कोबे' बन्दरगाह पहुँच जायगा। इधर कई दिनों से वर्षा बादल में रुकावट नहीं है। जहाँ तहाँ जापान के छोटे छोटे द्वीप दिखाई पड़ रहे हैं। वे आकाश की तरफ पहाड़ों को उठाकर समुद्र के यात्रियों को इशारा कर रहे हैं। किन्तु वर्षा से, कुहरे से, सब धुँधला हो गया है। बरसाती हवा से सर्दी-खाँसी हो जाने से गले का स्वर जिस तरह टूट जाता है और जैसी आवाज निकलने लगती है, ठीक वही दशा इन द्वीपों की भी है। मालूम होता है कि उन्हें भयंकर सर्दी लग गयी है। वर्षा के छींटों और भींगी हवा के झपेटों से बचने के लिए डेक के छोर से दूसरे छोर तक कुर्सी लिए घूम रहा हूँ।

हमारे साथ जो जापानी यात्री स्वदेश को लौट रहे हैं, वे आज भोर में ही अपना केबिन छोड़कर डेक के ऊपर चले आये हैं। जापान की प्रबल अभ्यर्थना ग्रहण करना उनका उद्देश्य है। उस समय केवल एक नीले आभा वाला पहाड़ जल के ऊपर दिखाई पड़ रहा था। मालूम हो रहा था कि मानस सरोवर के एक बहुत बड़े कमल पुष्प की एक पंखुड़ी खिल उठी है। वे [illegible] केवल यही देखकर [illegible] ऊपर आये। उन्होंने जिस दृष्टि से उस पहाड़ को देखा उस दृष्टि से देखना हमारी आँखों में नहीं है—उन्

लोग देख रहे हैं नूतन को, वे देख रहे हैं अपने चिरन्तन को। हम लोग अनेक तुच्छ को छोड़कर देख रहे हैं, वे छोटे बड़े सभी को एक विराट का अङ्ग बना कर देख रहे हैं। इसीलिए छोटा भी उनके लिए बड़ा है, टूटा फूल भी उनके लिए जुड़ा हुआ है, अनेक उनके लिए एक है। यही दृष्टि है, सत्य दृष्टि !

जहाज जब बिलकुल ही बन्दरगाह तक आ पहुँचा, उस समय बादल फट गये थे, सूर्य उग गया था। बड़ी बड़ी जापानी अप्सरा नौकाएं पाल उड़ाकर, जहाँ वरुणदेव के सभाप्राङ्गण में सूर्य देव का निमन्त्रण हुआ है, वह नृत्य कर रही हैं। प्रकृति के नाट्यमञ्च से बादल वर्षा की यवनिका उठ गयी है। मन में विचार उठा कि, इस अवसर पर डेक के ऊपर राजासन पर बैठकर समुद्र के तट पर जापान का प्रथम प्रवेश अच्छी तरह देख लूँ।

किन्तु ऐसा होने का क्या उपाय है? अपने नाम की उपमा ग्रहण करने में यदि कोई अपराध न हो तो मैं यह कहता हूँ कि, जब कि आकाश में रहने वाले मेरे नामराशि को छुट्टी मिल गयी तब मेरी पारी शुरू हो गयी। अपने चारो तरफ मुझे जरा भी खाली अंश नहीं दिखलाई पड़ा। समाचार पत्रों के संवाददाताओं ने अपने कैमरों के साथ मुझे घेर कर प्रश्नों की झड़ी लगा दी।

कोबे नगर में बहुत से भारतीय व्यापारी हैं। उनमें कुछ बंगाली भी हैं। हांगकांग शहर में पहुँचते ही मुझे इन भारत-वासियों के तार मिले थे। उन्हीं लोगों ने मेरे [illegible] की है, वे जहाज पर आकर उन लोगों ने मुझे [illegible] विख्यात जापान के [illegible] चित्रकार टाइक्कन भी आ गये। यह [illegible] भारतवर्ष [illegible] हमारे ही मकान पर ठहरे थे। काटसु टाकेओ दिखाई पड़े। यह भी हमारे चित्रकार मित्र हैं। इसी समय

स्थानों आ गये। एक समय ये हमारे शान्तिनिकेतन आश्रम में जुजुत्सु व्यायाम के शिक्षक थे। इसी समय कावागुचि का भी दर्शन मिला। यह बात मैं अच्छी तरह समझ गया कि हमें अपने बारे में अब कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। किन्तु मैंने यह देख लिया कि ऐसी चिन्ता का भार जब बहुत लोग मिलकर ग्रहण करते हैं तब चिन्ता का कोई अन्त नहीं रहता। हमारी आवश्यकतायें थोड़ी थीं, किन्तु आयोजन उनकी अपेक्षा बहुत अधिक हो उठा।

जापानियों की तरफ से मुझे अपने घर ले जाने के लिए खींचातानी शुरू हो गयी। किन्तु भारतवासियों का आमन्त्रण मैं पहले ही ग्रहण कर चुका था। इसको लेकर एक विषम संकट उपस्थित हो गया। दोनों में से कोई पक्ष भी हार मानने को तैयार नहीं था। वादानुवाद चलने लगा। इसके साथ ही समाचार पत्रों के चरगण मेरे चारों तरफ चक्कर काट रहे थे। स्वदेश त्याग करते समय बंगाल सागर में हवा के साइक्लोन का सामना करना पड़ा था। यहाँ जापान के घाट पर पहुँचते ही मुझे मनुष्यों के साइक्लोन का सामना करना पड़ा। यदि इन लोगों में से एक को चुनना पड़े तो मैं उस प्रथम को ही पास करूँगा। ख्याति नामक वस्तु में विपद् यह है कि, इसमें से जितना मेरे लिए आवश्यक है, केवल उसी को ग्रहण करने से ही निष्कृति नहीं मिल सकती। उसकी अपेक्षा बहुत अधिक लेना पड़ता है। अजीर्ण और अनिद्रा इन दोनों में से कौन फसल के लिए अधिक हानिकर है, इसकी जानकारी मुझे नहीं है।

यहाँ के एक प्रवासी गुजराती व्यवसायी [illegible] जी हैं। उनके ही घर मुझे स्थान मिला है। समाचार पत्रों के गुप्तचर यहाँ भी आ पहुँचे हैं।

इस उत्पात की आशा मुझे नहीं थी। जापान ने अब नयी मदिरा पी ली है, समाचार पत्रों की फेनिलता उसी का एक अङ्ग है। इतना अधिक फेन अमेरिका में भी मैंने नहीं देखा था। यह चीज केवल बातों की हवा का बुदबुदपुंज है—इसमें किसी का सच्चा प्रयोजन भी मैं नहीं देखता, किसी को उसमें आमोद मिलता है, यह भी मेरी समझ में नहीं आता। इससे केवल पात्र का माथा शून्यता से भर जाता है, मादकता का चित्र केवल आँखों के सामने प्रकट हो जाता है, यही मादकता मुझे सबसे अधिक पीड़ा देती है।

मुरार जी के मकान में भोजन करते, बात चीत करते और अभ्यर्थना से, कल रात का समय बीत गया। यहाँ की घर गृहस्थी में प्रवेश करने पर सबसे अधिक जापान की दासियों की याद आती है। माथे पर ऊँचा जूरा रहता है, दोनों गाल फूले रहते हैं, दोनों आँखें छोटी छोटी रहती हैं। उनका पहनावा बहुत सुन्दर रहता है, पैरों में रबड़ का बना पदार्थ रहता है। कवि गण सौन्दर्य का जैसा वर्णन करते हैं, उससे अनैक्य बहुत रहता है, फिर भी उन्हें देखना अच्छा ही लगता है। मालूम होता है कि मनुष्य के साथ पुतली, मांस के साथ मोम मिला हुआ है—और सारे शरीर में क्षिप्रता, निपुणता, बलिष्ठता विराज रही है।

मकान मालिक ने इन दासियों की चर्चा में कहा कि, ये जिस हद तक उपयोगी हैं उसी तरह स्वच्छ और साफ भी हैं। अपने अभ्यास के अनुसार मैं भोर में ही नींद से जाग कर खिड़की से बाहर की तरफ ताकने लगा। पड़ोसियों के घरों में गृहस्थी के काम धन्धों की धूम धाम हो रही थी। इस धूम धाम में स्त्रियों का ही हाथ था। घर घर में स्त्रियों के कामों की तरंगें ऐसी विचित्र वृहत् और प्रबल थीं, कि [illegible] [illegible] ऐसा दिखाई नहीं

…ड़ता । किन्तु यहाँ इन्हें देखने से यह बात समझ में आती है कि, ऐसी स्वाभाविकता और किसी में नहीं है । शरीर यात्रा के निर्वाह का भार आदि से अन्त तक स्त्रियों के ही हाथ में रहा है । देहयात्रा का यह आयोजन और उद्योग स्त्रियों के लिए स्वाभाविक और सुन्दर है । कामों में सतत् तत्पर रहने से स्त्रियों का स्वभाव यथार्थ मुक्ति पाता है, इसीलिए वह श्री प्राप्त करता है । विलास की जड़ता से अथवा किसी भी अन्य कारण से जहाँ स्त्रियाँ इस कर्म-तत्परता से वञ्चित हैं, वहाँ उनमें विकार उपस्थित होता है, उनके सौन्दर्य की हानि होने लगती है । उनके चित्त की भी हानि होने लगती है और उनके यथार्थ आनन्द में विघ्न उपस्थित होता है । यहाँ सर्व क्षण, घट घट में तेज गति से स्त्रियों के हाथ से चलने वाले काम का स्रोत निरन्तर बह रहा है, यह देखना मुझे बहुत अच्छा लगता है । बगल वाले मकान से इनके गले की आवाज और हँसने का शब्द कभी कभी मुझे सुनाई पड़ता है । मेरे मन में यही भाव उठ रहा है कि स्त्रियों की बातचीत का तरीका और हँसना सभी देशों में समान है । अर्थात्, यह स्रोत के जल के ऊपर का प्रकाश सा है जो चमकता रहता है, जो जीवन चांचल्य की [illegible] होता है ।

११

नवीन को देखने के लिए मन को कुछ विशेष रूप से बत्ती जलाने की जरूरत पड़ती है । पुराने को देखने के लिए आँखें अच्छी तरह खोलनी भी नहीं पड़तीं । इसीलिए जब विदेश की [illegible] से [illegible] हूँ, [illegible] को देख लेता हूँ, फिर [illegible] नदियों को [illegible] है । [illegible], क्योंकि [illegible] नहीं [illegible] ।

मुकुल मुझसे पूछ रहा था—"अपने देश में रहते समय पुस्तकों में पढ़ने से, चित्रों को देखने से, जापान जिस तरह विशेष रूप से नवीन मालूम होता था, यहाँ वही भाव मन में क्यों नहीं उठता ?" इसका कारण यही है कि, रंगून से आरम्भ करके सिंगापुर हांगकांग होते हुए आते-आते, मन के पास नूतन को देखने का जो विशेष आयोजन रहता है वह धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है। जब विदेशी समुद्र के इस कोने में, उस कोने में वृक्ष-पत्रहीन पहाड़ दिखाई पड़ते हैं तब मैं कहने लगता हूँ—'वाह !' तब मुकुल कहता है—'यहाँ उतरकर रहने लगें तो बहुत मजा मिले।' वह समझता है इस नूतन को प्रथम देखने की उत्तेजना शायद चिरकाल ही बनी रहेगी। यहाँ इन छोटे-छोटे पहाड़ों को आलिंगन करता हुआ समुद्र शायद चिर दिन ही नूतन भाषा में बोलता रहता है। उस स्थान में पहुँच जाने पर मानो समुद्र का चंचल नील, आकाश का शान्त नील और इन पहाड़ों का धुँधला नील, इन तीनों का ही अस्तित्व बना रहेगा और कुछ की जरूरत ही न पड़ेगी। उसके बाद धीरे-धीरे विरल अविरल होने लगा। थोड़ी-थोड़ी देर में हमारे जहाज को एक-एक द्वीप मिलने लगा। तब मैंने देखा कि दूरबीन टेबिल पर अनादर से पड़ा रहता है, मन कुछ उत्साह ही नहीं दिखाता। जब देखने की सामग्री बढ़ जाती है तब देखना ही घट जाता है। नूतन को भोग करके नूतन की भूख धीरे-धीरे घट जाती है।

एक हफ्ते से जापान में हूँ, किन्तु मालूम होता है कि, बहुत दिनों से हूँ। इसका अर्थ यह हुआ कि, राह-घाट, पेड़-पौधों, लोक-जनों में जो कुछ नूतनता है वह बहुत गम्भीर नहीं है, उनमें जो पुराना है वही परिमाण में अधिक है। समाप्त न होनेवाला [illegible]

कहीं भी नहीं है। अर्थात् संसार में ऐसा असंगत कुछ भी नहीं है जिसके साथ हमारे चिरपरिचित का मेल नहीं बैठता।

पहले अचानक आँखों के सामने पड़नेवाली चीजों से हठात् हमारे मन के अभ्यास का मेल नहीं होता। उसके बाद पुराने के साथ नूतन का जिन-जिन अंशों में रंग मिलने लगता है, चेहरे के आस-पास जो सब आने लगते हैं, उन्हें मन झटपट अपने आस-पास सजाकर ले लेता है और उनके साथ व्यवहार करने लगता है। जब हम ताश खेलने लगते हैं तब हमारे हाथ में जो कागज आते हैं उनके रंग और मूल्य के अनुसार एक के बाद एक करके हम उन्हें सजा रखते हैं। यह दृश्य-उपभोग भी उसी प्रकार का है। केवल नूतन को देख लेने से ही तो काम न चलेगा, उसके साथ व्यवहार करना पड़ेगा। इसीलिए मन उसको अपने पुराने ढाँचे में यथाशीघ्र सरिया लेता है। ज्यों ही सरियाने का काम हो जाता है तब हम देख पाते हैं कि, यह उतना अधिक नूतन नहीं है, जितना शुरू में मालूम हुआ था। असल में यह है पुराना, भंगी ही है नूतन।

इसके सिवा एक और कठिनाई यह आ गयी है। हम देख रहे हैं पृथ्वी की सभी सभ्य जातियाँ ही वर्तमान काल के साँचे में ढाल दी गयी हैं और एक ही तरह का चेहरा अथवा चेहरे का अभाव धारण कर चुकी है। मैं इस खिड़की के पास बैठकर कोबे शहर की तरफ देख रहा हूँ। मुझे जो कुछ दिखाई पड़ रहा है वह तो लोहे का जापान है, यह तो रक्त-मांस का बना नहीं है। एक तरफ है मेरी खिड़की, दूसरी तरफ है समुद्र, इसके बीच में है शहर। चीनी लोग जैसी विकट मूर्ति ड्रैगन की अंकित करते हैं, यह भी वैसा ही है। टेढ़ा-मेढ़ा अपना विपुल शरीर लेकर वह

मानो इस हरी-भरी पृथ्वी को खा गयी है। एक दूसरे के साथ सटी हुई लौह निर्मित छतें ठीक मानो उसकी ही पीठ की गूदे की तरह धूप में झलक-चमक रही है, यह दरकार नामक दैत्य बहुत ही कठोर है, बहुत ही कुत्सित है। पृथ्वी में मनुष्य के लिए जो अन्न है, वह फल से, शस्य से, विचित्र और सुन्दर है। किन्तु उस अन्न को जब हम ग्रास करने के लिए जाते हैं, तब उसे खूब पकाकर पिण्ड बनाकर उठाते हैं, तब हम विशेषत्व को, दरकार के दबाव से पीस डालते हैं। कोबे शहर की पीठ की तरफ देखने से हम समझ सकते हैं कि, मनुष्यों के दरकार नामक पदार्थ ने स्वभाव की विचित्रता को एकाकार बना दिया है। मनुष्य की जरूरत है, यही बात बराबर बढ़ती चली जा रही है, बढ़ते-बढ़ते मुँह बा कर वह जरूरत पृथ्वी के अधिकांश भाग को खा गयी है। पृथ्वी भी केवल दरकार की सामग्री है, मनुष्य भी केवल दरकार का मनुष्य बनता जा रहा है।

जिस दिन से कलकत्ता छोड़कर बाहर निकल पड़ा हूँ, घाट-घाट पर देश-देश में यही दशा वृहत् रूप में मुझे दिखाई पड़ रही है। मनुष्य की आवश्यकता मनुष्य की पूर्णता को किस हद तक अतिक्रम कर गयी है, इसके पहले किसी दिन इतने स्पष्ट रूप से मैंने इसे नहीं देखा है। किसी समय मनुष्यों ने इस दरकार को छोटे रूप में देखा था। उन लोगों ने व्यवसाय को नीचे की जगह दी थी, रुपये कमाने को सम्मान नहीं दिखाया था। देवता की पूजा करके, विद्यादान करके, अन्नदान करके जो लोग रुपया लेते थे, उनको लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे। किन्तु, आजकल जीवन-यात्रा इतनी अधिक दुस्साध्य हो गयी है, और रुपये का आयतन और शक्ति इतनी अधिक बड़ी हो गयी है कि दरकार और दरकार

के सभी वाहनों को अब मनुष्य घृणा करने का साहस नहीं करता। अब मनुष्य अपनी सभी वस्तुओं के ही मूल्य का परिमाण, रुपये से विचार करने में लज्जा अनुभव नहीं करता। इस तरह के कामों से मनुष्य की प्रकृति बदल गयी है—जीवन का लक्ष्य और गौरव अन्तर से बाहर की तरफ है, वह आनन्द से प्रयोजन की तरफ अत्यन्त झुक गया है। अब यह दशा है कि, मनुष्य लगातार अपने को बेचने में जरा भी संकोच नहीं करता। क्रमशः ही समाज का एक ऐसा परिवर्तन होता जा रहा है कि, रुपया ही मनुष्य की योग्यता के रूप में प्रकट होने लगा है। फिर भी यह बात सच नहीं है कि, यह अवस्था केवल बाध्य होकर निरुपायवश ही हो गयी है। इसी कारण, किसी समय जो मनुष्य, मनुष्यत्व की रक्षा के निमित्त रुपये की अवज्ञा करना जानता था, वही अब रुपये के लिए मनुष्यत्व की अवज्ञा कर रहा है। राजतन्त्र में, समाजतन्त्र में, घर और बाहर, सर्वत्र ही इसका परिचय कुत्सित हो उठा है। किन्तु, हम वीभत्सता को देख नहीं रहे हैं, क्योंकि हमारे नेत्र लोभ से आच्छन्न हो गये हैं।

जापान के शहरों में जाने से उसका जो रूप दिखाई पड़ता है, उसमें जापानित्व विशेष नहीं है। मनुष्यों की साज-सज्जा से भी जापान धीरे-धीरे विदा होता जा रहा है। अर्थात् जापान ने घर की पोशाक छोड़कर आफिस की पोशाक पकड़ ली है। आजकल संसार-व्यापी एक आफिस-राज्य कायम हो गया है। किसी विशेष देश की यह हालत नहीं है। आफिसों की उत्पत्ति आधुनिक यूरोप से हुई है, इस कारण इसका वेश आधुनिक यूरोप का ही चला है। किन्तु यथार्थतः इस वेश से मनुष्यों का या देश का परिचय नहीं मिलता, आफिस-राज्य का परिचय मिलता है। हमारे

देश में भी एक डाक्टर कहता है—मुझे हैट-कोट की जरूरत है। कानून व्यवसायी भी यही बात कहता है। बनियाँ भी यही कहता है। इसी प्रकार दरकार नामक चीज लगातार बढ़ती चली जा रही है, और समूची पृथ्वी को कुत्सित भाव से एकाकार बनाती जा रही है।

इसीलिए जब हम जापान के किसी शहर की सड़क पर चलने लगते हैं तब मुख्य रूप से हमारी नजर जापानी स्त्रियों पर जा पड़ती है। तब हम समझने लगते हैं कि, ये ही हैं जापान के घर, जापान के देश। ये लोग आफिस की नहीं। किसी-किसी के मुँह से मैं यह सुनता हूँ कि जापान की स्त्रियों को वहाँ के पुरुषों से सम्मान नहीं मिलता। मैं नहीं जानता कि यह बात सच है या झूठ। किन्तु एक सम्मान ऐसा है जो बाहर से नहीं दिया गया है, वह अपने ही भीतर की चीज है। यहाँ की स्त्रियों ने ही जापान के देश में जापान के सम्मान की रक्षा करने का भार लिया है। उन लोगों ने दरकार को ही सबसे अधिक सम्मान नहीं दिखाया है, इसी कारण वे नयन, मन को आनन्द देनेवाली हैं।

एक बात यहाँ राहघाट में हमें दिखाई पड़ती है। रास्ते में लोगों की भीड़ लगी रहती है, किन्तु शोरगुल कुछ भी नहीं रहता। मानो इन्हें चिल्लाने का हाल मालूम ही नहीं है। लोग कहते हैं कि, जापान के बच्चे कभी रोते ही नहीं हैं। मैंने अभी तक एक भी बच्चे को रोते नहीं देखा। सड़कों से मोटर पर चढ़कर जाते समय कभी-कभी अन्य गाड़ियों आदि के आ जाने से रुकावट पड़ जाती है। ऐसी हालत में मोटर का चालक शान्त भाव से ठहर जाता है, किसी को गाली नहीं देता, चिल्लाहट-पुकार नहीं मचाता। इधर हमारे देश की यह हालत है कि, रास्ते में यदि

हठात् एक बाइसिकिल मोटर के साथ टकराने लगती है तो, हमारे देश का मोटर चालक बाइसिकिल के आरोही को अनावश्यक गालीगलौज सुनाने से बाज नहीं आता। किन्तु यहाँ ऐसी घटना को जरा भी महत्व नहीं दिया जाता। यहाँ के बंगालियों के मुँह से मैंने सुना है कि, सड़क पर दो बाइसिकिलों में, अथवा मोटर के साथ बाइसिकिल की टक्कर लग जाने से रक्तपात हो जाता है, तब भी दोनों पक्षों के लोग चिल्लाते-चीखते नहीं, आपस में गाली-गलौज नहीं करते। शरीर की धूल झाड़कर चले जाते हैं।

मुझे ऐसा जान पड़ता है कि, यही है जापान की शक्ति का मूल कारण। जापानी निरर्थक चिल्लाकर, चीखकर, झगड़ा-झमेला बढ़ाकर अपना बल क्षय नहीं करता। जापान में प्राण-शक्ति का निरर्थक खर्च नहीं होता इसलिए आवश्यकता पड़ने पर खींचतान करने की नौबत नहीं आती। शरीर-मन की यह शान्ति और सहिष्णुता उनकी स्वजातीय साधना का एक अंग है। शोक में, दुःख में, आघात में या उत्तेजना में वे लोग अपने को संयत रखना जानते हैं। यही कारण है कि, विदेश के लोग प्रायः कहते हैं जापानियों को समझा नहीं जा सकता, ये लोग अत्यन्त गूढ़ होते हैं। इसका कारण यह है कि ये लोग सर्वदा मामूली-सी बातों में त्रुटि दिखलाकर जिसक-तिसके सामने व्यक्त नहीं होने देते।

अपने आपको व्यक्त करने के कार्य में जापानी जो इस तरह अपनी मनोवृत्ति को संक्षिप्त बना रखते हैं, यह उनका स्वभाव-सा हो गया है। यही मनोभाव उनकी कविताओं में भी दिखाई पड़ता है। संसार में और कहीं भी तीन लाइन का काव्य नहीं है। ये तीन ही लाइनें उनके कवियों और पाठकों दोनों ही पक्षों के लिए यथेष्ट हैं। यही कारण है कि, जब से मैं यहाँ आया हूँ, तब से

किसी को रास्ते में गान गाते हुए नहीं सुना। झरने के जल की तरह उनका हृदय शब्द नहीं करता, वह सरोवर के जल की तरह स्तब्ध रहता है। अब तक उनकी जितनी कविताएँ मुझे सुनने को मिली हैं वे सभी चित्र देख लेने की कविताएँ हैं, गान गाने की कविताएँ नहीं हैं। हृदय में जो दाह या क्षोभ रहता है उससे जीवनी शक्ति घट जाती है, खर्च हो जाती है, इनका ऐसा स्वर्ग धाम है। इनके अन्तर का समस्त प्रकाश सौन्दर्य-बोध में है। सौन्दर्य-बोध नामक वस्तु स्वार्थनिरपेक्ष है। फूल, पक्षी, चन्द्रमा ये सब ऐसे हैं कि इनको लेकर हमें रोना-धोना नहीं पड़ता। इनके साथ हमारा जो सम्बन्ध है वह विशुद्ध सौन्दर्यबोध का सम्बन्ध है—ये हमें कहीं भी नहीं मारते, हमसे कुछ भी छीन नहीं लेते, इन लोगों के द्वारा हमारे जीवन में कहीं भी क्षय नहीं होने पाता। इसी कारण केवल तीन लाइनों से इनका काम चल जाता है और कल्पना में भी ये लोग शान्ति को बाधा नहीं पहुँचाते।

इनकी दो पुरानी कविताओं का नमूना दे रहा हूँ। इससे मेरा कथन स्पष्ट हो जायगा—

पुराना पोखरा,
मेढ़क का उछलना,
जल का शब्द।

बस! अब जरूरत नहीं है। जापानी पाठक का मन नेत्रों से परिपूर्ण है। पुराना पोखरा वह है जिसे मनुष्य ने छोड़ दिया है, जो निस्तब्ध है, अन्धकार है। उसमें एक मेढ़क ज्योंही कूद जाता है त्यों ही शब्द सुनाई पड़ा। सुनाई पड़ा—इससे यह बात समझ में आ जायगी कि, वह पोखरा कैसा निस्तब्ध है। इस पुराने पोखरे का चित्र किस तरह मन में अंकित कर लेना होगा, कवि ने

केवल इतना ही इशारा कर दिया। इससे अधिक कुछ कहना बिलकुल अनावश्यक है।

एक और कविता देखिये—

सड़ी डाल,
एक कौआ,
शरत् काल।

शरत् काल में वृक्ष की डाल में पत्तियाँ नहीं हैं। दो-चार डालियाँ सड़ गयी हैं। एक सड़ी डाल पर कौआ आ बैठा है। शीत प्रधान देशों में शरत् काल में वृक्षों की पत्तियाँ झड़ जाती हैं, फूल गिर जाते हैं, कुहरे से आकाश म्लान हो जाता है—यह काल मन में मृत्यु का भाव लाता है। सड़ी डाल पर काला कौआ बैठा हुआ है। इतने से ही पाठक शरत् काल की समस्त रिक्तता और म्लानता देख लेता है। कवि केवल सूत्रपात करके ही हट जाता है। उसको इतनी जल्दी हट जाना पड़ता है उसका कारण यह है कि, जापानी पाठकों में चेहरा देखने की मानसिक शक्ति प्रबल है।

यहाँ एक कविता का नमूना दे रहा हूँ, जो आँखों से देखने की अपेक्षा बड़ा है—

स्वर्ग और मर्त्य हैं फूल,
देवगण और बुद्ध हैं फूल—
मानव का हृदय है फूल की अन्तरात्मा।

मुझे जान पड़ता है कि, इस कविता में जापान के साथ भारतवर्ष की समता प्रकट होती है। जापान स्वर्ग लोक और मर्त्यलोक को विकसित फूल की तरह देख रहा है। भारतवर्ष कहता है, एक ही वृक्ष में ये दो फूल, स्वर्ग और मर्त्य, देवता और बुद्ध हैं—

मनुष्य का हृदय यदि न रहता तो यह फूल केवल बाहर की चीज होता—इस सुन्दर का सौन्दर्य ही मनुष्य के हृदय में है।

जो भी हो, इन कविताओं में केवल भाव संयम ही नहीं है, इसमें भाव का भी संयम है। इस भाव के संयम को हृदय की चंचलता कहीं भी क्षुब्ध नहीं कर रही है। हमारे विचार में यही आता है कि, इसमें जापान का एक गहरा परिचय विद्यमान है। संक्षेप में हम इसे हृदय की मितव्ययिता कह सकते हैं।

हम यह देख चुके हैं कि मनुष्य की एक इन्द्रिय शक्ति को घटा कर दूसरी को बढ़ा देना सम्भव होता है। सौन्दर्य बोध और हृदयावेग ये दोनों ही हृदय वृत्तियाँ हैं। आवेग के बोध और प्रकाश को घटाकर, सौंदर्य बोध और प्रकाश को बहुत अधिक परिमाण में बढ़ाया जा सकता है—यह विचार मेरे मन में यहाँ आ जाने के बाद से ही उठता आया है। अपने देश में और अन्य स्थानों में मैं हृदयोच्छ्वास से बहुत देख चुका हूँ, वही यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होता। सौन्दर्य की अनुभूति यहाँ इतने अधिक परिमाण में और इस तरह सभी स्थानों में दिखाई पड़ती है कि उसके द्वारा हम यह स्पष्ट ही समझ पाते हैं कि, यह एक ऐसा विशेष बोध है, जिसे हम लोग ठीक समझ नहीं सकते। यह मानो कुत्ते की घ्राण शक्ति और मधुमक्खी के दिक्‌बोध की तरह है, हमारी उपलब्धि के अतीत है। यहाँ जो व्यक्ति अत्यन्त गरीब हैं वह भी प्रतिदिन अपने पेट की भूख को वंचना करके भी एकाध पैसे का फूल खरीदे बिना रह नहीं सकता। इसके नेत्रों की क्षुधा इनके पेट की क्षुधा की अपेक्षा कम नहीं है।

कल दो जापानी लड़कियाँ मेरे पास आयीं और इस देश में फूल को सजाने से [illegible] दिया है वह मुझे दिखा गयीं।

इसके अन्दर कितना आयोजन है, कितनी चिन्तनीय बातें हैं, कितनी निपुणता है, इसका ठिकाना नहीं है। प्रत्येक पत्ती और प्रत्येक टहनी पर मन लगा देना पड़ता है। आँखों से देखने का छन्द और सङ्गीत इनके लिये कितना प्रबल भाव से सुगोचर है, यह बात मैं कल उन दोनों जापानी लड़कियों का काम देखकर समझ गया।

एक पुस्तक में मुझे यह पढ़ने का मौका मिला था कि, प्राचीन काल में जो लोग विख्यात योद्धा होते थे, वे अपने अवकाश काल में फूल सजाने की विद्या की आलोचना करते थे। उनकी धारणा थी कि, इसके द्वारा उनकी रणदक्षता और वीरता की उन्नति होती है। इसीसे तुम समझ जाओगे कि, जापानी अपनी इस सौन्दर्य-अनुभूति को शौक करने की चीज नहीं समझता। वे लोग जानते हैं कि, इससे मनुष्य की शक्ति की विशेष गहराई के साथ वृद्धि हो जाती है। इस शक्ति-वृद्धि का मूल कारण है शान्ति। जिस सौन्दर्य का आनन्द निरासक्त आनन्द होता है, उसके द्वारा जीवन का क्षय निवारण होता है और जिस उत्तेजना अधीरता से मनुष्य की हृदयवृत्ति और मनोवृत्ति मेघाच्छन्न हो जाती है उसको यह सौन्दर्य-बोध शान्त कर देता है।

उस दिन एक धनवान जापानी ने हमें [illegible] में अपने घर निमन्त्रित किया था। तुम लोग [illegible] of Tea पढ़ चुके हो, उसमें इस अनुष्ठान का वर्णन है। उस दिन यह अनुष्ठान देखकर मैं समझ गया कि, जापान के लिए यह अनुष्ठान धर्मानुष्ठान के समान है। [illegible] साधना है। उनका लक्ष्य किस [illegible] बात सहज में समझ में आ जाती है।

कोबे शहर से मोटरयान द्वारा रवाना हुआ। बहुत दूर का रास्ता पार करके पहले ही मैं एक बगीचे में प्रवेश कर गया। वह बगीचा छाया से, सौन्दर्य से और शान्ति से एकदम निविड़ भाव से परिपूर्ण था। बगीचा क्या चीज है यह बात जापानी जानते हैं। कुछ कंकड़-पत्थर चुनकर फेंक देने के बाद पौधे रोप कर मिट्टी पर ज्योमेट्री का हिसाब दिखाने को ही बगीचा लगाना नहीं कहते, यह बात जापानी बगीचे में प्रवेश करने के साथ ही समझ में आ जाती है। जापानी नेत्र और हाथ दोनों ने ही प्रकृति से सौन्दर्य की दीक्षा प्राप्त की है। जिस तरह ये लोग देखना जानते हैं उसी तरह वे गढ़ना भी जानते हैं।

हम-छाया पथ से चलने लगे। चलते चलते एक पेड़ के नीचे पहुँच गये। वहाँ हमने सामने देखा कि पत्थर के चबूतरे पर एक गढ़ा खुदा हुआ है, उसमें स्वच्छ जल है। हममें से प्रत्येक ने ही उसी जल से हाथ मुँह धो डाले। उसके बाद हम लोग एक छोटी कोठरी में ले जाए गए। उन लोगों ने रबड़ के बने छोटे छोटे आसन हमारे लिए बिछा दिये। उनपर ही हम बैठ गये। वहाँ का नियम है कि, उस जगह कुछ देर तक चुपचाप बैठे रहना चाहिये जाने पर तुरन्त ही गृहस्वामी से मुलाकात नहीं होती। मन को शान्त बनाकर स्थिर रहने के लिए धीरे धीरे नियन्त्रण करना पड़ता है और ले जाया जाता है। धीरे २ दो-तीन कोठरियों में विश्राम करते करते अन्त में हम असली जगह पहुँचाए गए। समूचा घर ही निस्तब्ध था, मानो चिर प्रदोष की छाया से आवृत हो। किसी के मुँह से कोई बात नहीं निकल रही थी। मन के ऊपर इस छाया घन, निःशब्द निस्तब्धता का सम्मोहन गाढ़तर होने लगा। अन्त में गृहस्वामी ने आकर नमस्कार करके हमारी अभ्यर्थना की।

कमरों में असबाब है ही नहीं यह कहने में अत्युक्ति न होगी। फिर भी मालूम होता है कि, ये सभी कमरे कुछ ऐसी चीजों से पूर्ण हैं जिन्हें हम देख नहीं सकते, मानो इस परिपूर्णता से गमगम कर रहे हैं। कहीं पर केवल एक चित्र है अथवा एक ही बरतन रखा हुआ है। निमन्त्रितगण उसी को बड़े यत्न से देखकर चुप-चाप तृप्ति लाभ करते हैं। जो वस्तु यथार्थ सुन्दर है उसके चारों तरफ एक बहुत बड़ी विरलता का अवकाश रहना चाहिए। जो चीजें बहुत अच्छी हैं उन्हें अन्य बहुत सी चीजों से सटाकर रगड़ में रखना उनका अपमान करना है। यह मानो किसी सती स्त्री को सौत की घर गृहस्थी के कामों में लगा देने की तरह है। धीरे २ प्रतीक्षा करते करते, स्तब्धता और निःशब्दता के द्वारा मन की क्षुधा को जागृत कर लेने के बाद, जब इस प्रकार दो-एक अच्छी चीज दिखाई जाती है, तब वह कैसी उज्ज्वल हो उठती है, यह बात यहाँ आने पर मैं स्पष्ट समझ गया। मुझे याद पड़ गया, शान्ति-निकेतन आश्रम में जब मैं एक दिन एक एक गान रचना करके सबको सुनाया करता था, तब सभी के सामने वह गान अपना हृदय पूर्णरूप से उद्घाटित कर देता था। किन्तु उन्हीं गानों को इकट्ठा करके कलकत्ता लाकर जब मैंने मित्रों की मण्डली के बीच रख दिया, तब उन सभी ने अपनी यथार्थ शोभा को आवृत कर रखा। इसका अर्थ यही हुआ कि, कलकत्ते के मकान में गान के चारो तरफ कहीं भी कोई खाली जगह नहीं है—सभी लोकजन घर-द्वार, काम-काज, [illegible] आ गिरते हैं। [illegible] उसका ठीक अर्थ [illegible]

उसके बाद गृहस्वामी ने आकर कहा—[illegible] और परिवेशन का भार मैंने [illegible]

पर छोड़ दिया है। उनकी पुत्री आ गयी और नमस्कार करके चाय तैयार करने में व्यस्त हो गयी। कमरे में उनका प्रवेश होने के समय से चाय तैयार होने के समय तक उनका प्रत्येक अंग मानो छन्द की तरह चलता रहा। धोना-पोंछना, आग जलाना, चायदानी का ढकना खोल देना, गरम जल का बरतन उतारना, प्यालों में चाय डालना, अतिथि के सामने उन्हें बढ़ा देना, सब ही ऐसे संयम और संयम से मण्डित रहा कि, वह दृश्य देखे बिना समझ में नहीं आ सकता। चाय-पान करने का प्रत्येक आसबाब दुर्लभ और सुन्दर रहा। अतिथि का कर्तव्य है कि, इन पात्रों को घुमा घुमाकर एकान्त मनोयोग से देखे। प्रत्येक पात्र का स्वतन्त्र नाम और इतिहास रहता है। कितने यत्न से वह रखा जाता है यह बताया नहीं जा सकता।

सारी कारवाई का मर्म यह है। शरीर मन को एकान्त संयत करके, निरासक्त प्रशान्त-मन से, सौन्दर्य को अपनी प्रकृति में ग्रहण करना चाहिये। इसमें भोगी का भोगोन्माद नहीं रहता। कहीं भी लेशमात्र उच्छृङ्खलता या अमिताचार नहीं रहता। मन के ऊपरी तले पर जहाँ सर्वदा तरह तरह के स्वार्थों का आघात लगता रहता है और उस आघात से, तरह २ के प्रयोजनों की हवा से, चंचल तरंगें उठती रहती हैं, उससे दूर सौन्दर्य की गंभीरता में अपने को समाहित कर देना ही इस चाय-पान अनुष्ठान का तात्पर्य है।

इससे यह बात समझ में आ जाती है कि जापान का जो सौन्दर्य बोध है, वह उसकी एक साधना है, उसकी यह एक प्रबल शक्ति है। विलास नामक चीज अन्दर बाहर केवल खर्च ही कराती है, उसी से दुर्बल बना देती है। किन्तु विशुद्ध सौन्दर्य बोध, मनुष्य के मन की स्वार्थ और वस्तुओं के संघर्ष से रक्षा करता है। इसी-

लिए जापानी के मन में यह सौन्दर्य बोध पौरुष के साथ सम्मिलित हो सका है।

इस उपलक्ष्य में एक और बात बता देने की जरूरत है। यहाँ स्त्री-पुरुष के एक साथ निकटस्थ होकर रहने में किसी तरह की ग्लानि नहीं दिखाई पड़ती। अन्य स्थानों में स्त्री-पुरुष के बीच लज्जा-संकोच की जो गन्दगी रहती है, इस देश में वह नहीं है। मालूम होता है कि, यहाँ के लोगों में मोह का आवरण मानो कम है। इसका प्रधान कारण यह है कि, जापान में स्त्री-पुरुष एक साथ वस्त्ररहित होकर स्नान करते हैं, ऐसी प्रथा यहाँ प्रचलित है। इस प्रथा में कलुष की भावना लेशमात्र भी नहीं है। उसका प्रमाण यह है—निकटतम आत्मीयजन भी इसके कारण मन में कोई बाधा अनुभव नहीं करते। इसी प्रकार यहाँ स्त्री-पुरुष का शरीर एक दूसरे की दृष्टि से किसी माया का पालन नहीं करता। शरीर के सम्बन्ध में दोनों पक्षों का मन खूब स्वाभाविक रहता है। अन्य देशों की कामुक दृष्टि और दुष्ट बुद्धि के कारण आजकल शहरों में यह नियम उठाया जा रहा है। किन्तु गांव-देहात में अब भी इस नियम का प्रचलन है। संसार में जितने सभ्य देश हैं उनमें एक जापान ही मनुष्य के शरीर के सम्बन्ध में मोहमुक्त है, यह बात मेरे विचार से एक बहुत बड़ी बात प्रतीत होती है।

फिर भी, आश्चर्य का विषय यह है कि, जापान के चित्रों में उलङ्ग स्त्री-मूर्ति कहीं भी नहीं दिखाई पड़ती। उलङ्गता की गोप-नीयता ने यहाँ के लोगों के मन में कोई [illegible] नहीं पैदा[illegible] [illegible] इसलिए [illegible] [illegible] [illegible] अवश्य ही [illegible] है। एक और बात [illegible] यहाँ दिखाई पड़ती है। यहाँ स्त्रियाँ जो कपड़े पहनती हैं, उनमें [illegible] की [illegible] में दिखलाने की कुछ भी चेष्टा नहीं रहती।

प्रायः सर्वत्र ही स्त्रियों के पहनावे में ऐसी कुछ भंगिमाएँ रहती हैं, जिनसे यह बात समझ में आ जाती है कि, उन लोगों ने पुरुषों की मोह-दृष्टि को विशेष भाव से दाब रखा है। यहाँ के स्त्रियों के कपड़े सुन्दर रहते हैं, किन्तु उन कपड़ों में शरीर के परिचय को इङ्गित के द्वारा दिखाने की कोई चेष्टा नहीं रहती। यह बात मैं नहीं कहता कि, जापानियों के चरित्र में चरित्र-दुर्बलता कहीं भी नहीं है, किन्तु स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को घेरकर प्रायः सभी देशों में मनुष्य ने जो एक कृत्रिम मोह का घेरा डाल दिया है, उसका आयोजन मेरी निगाह में जापानियों में बहुत कम ही जान पड़ा। और कम-से-कम उसी परिमाण में यहाँ स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध स्वाभाविक और मोहमुक्त है।

एक और बात ऐसी है, जिससे मुझे बहुत आनन्द मिलता है। यह है जापान के छोटे-छोटे बच्चे-बच्चियाँ। राह-घाट में सर्वत्र इतने अधिक परिमाण में छोटे लड़के-लड़कियों को और कहीं भी मैंने नहीं देखा है। मुझे यही जान पड़ा कि, जिस कारण जापानी फूल पसन्द करते हैं, उसी कारण से वे लोग बच्चों को भी प्यार करते हैं। शिशुओं पर उनका जो प्रेम है उसमें कोई कृत्रिम मोह नहीं है। हम लोग उनके फूलों की ही तरह निःस्वार्थ निरासक्त भाव से प्यार कर सकें तो ठीक हो।

कल प्रातःकाल ही भारतवर्ष की डाक जायगी और हम लोग भी टोकियो की यात्रा करेंगे। एक बात तुम लोग याद रखो—मैं जैसे जैसे देख रहा हूँ, वैसे वैसे लिखता जा रहा हूँ। यह केवल एक नये देश के ऊपर निगाह दौड़ाते जाने का इतिहास मात्र है। इसमें से यदि तुम लोगों में से कोई अधिक परिमाण में [illegible] [illegible] परिमाण में भी 'वस्तुतन्त्रता' का दावा करोगे तो निराश

यहाँ पहुँचते ही मैं आदर अभ्यर्थना के जाइबलोन में पड़ गया हूँ। इसके साथ ही समाचार पत्रों के चरों ने मेरे चारोंतरफ तूफान मचा दिया है। इनको हटाकर जापान का और कुछ देख पाऊँगा, ऐसी आशा मुझे नहीं थी। जहाज को ये लोग घेर लेते हैं, रास्ते में ये लोग साथ साथ चलते हैं, कमरे में प्रवेश करने में इनको संकोच नहीं मालूम होता।

इन कौतूहलियों की भीड़ को ठेलते ठेलते अन्त में टोकियो नगर में हम पहुँच गये। यहाँ मुझे अपने चित्रकार मित्र योकोयामा टाइक्वान के मकान में आश्रय मिला। जहाँ से धीरे धीरे जापान का आन्तरिक परिचय मिलना शुरू हो गया।

पहले ही जूतों को मकान के दरवाजे के पास छोड़ देना पड़ा। मैं समझ गया कि ये जूते रास्ते के लिए हैं और ये पैर घर में रहने के लिए हैं। मैंने यह भी देख लिया कि धूल नामक चीज उनके घर में रहने की चीज नहीं है, वह बाहर की पृथ्वी की है। मकान में जितने कमरे हैं और आने जाने के जो रास्ते हैं, सब पर चटाई बिछा दी गई है। उस चटाई के नीचे पुआल की गद्दी रहती है, इसलिए इनके कमरों में जिस तरह पैरों की धूल नहीं पड़ती उसी तरह पैरों के शब्द भी नहीं होते। दरवाजों के किवाड़ ठेलने से बन्द होते हैं या खुलते हैं, हवा के झोंके से खड़खड़ाहट या अन्य किसी प्रकार की आवाज होने की सम्भावना नहीं रहती।

एक और उल्लेखनीय बात यह है—इनके मकान भी संक्षिप्त रीति से बनाये जाते हैं। इनकी दीवालें, छड़ियाँ, धरनें, खिड़कियाँ, [illegible] कम संख्या में रहते हैं। अर्थात् ये मकान [illegible] कर जाते, वे उनके पूर्ण अधिकार में रहते हैं। [illegible] काम दुस्साध्य नहीं होते।

इसके अतिरिक्त कमरेमें आवश्यकता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रहता। कमरे की दीवालें, उसकी फर्श, सभी जिस प्रकार स्वच्छ रहते हैं, उसी प्रकार कमरे की जगह भी चमकती रहती है। निरर्थक किसी भी चीज का चिह्न मात्र भी उसमें नहीं दिखाई पड़ता। भारी सुविधा यह है कि, इनमें जो लोग पुराने चाल के हैं, वे कुर्सी टेबुल का बिलकुल ही व्यवहार नहीं करते। सभी जानते हैं कि कुर्सी-टेबुल जीव तो नहीं है, किन्तु उनके ही हाथ पाँव तो रहते ही हैं। जब उनकी कोई जरूरत नहीं रहती, तब भी वे जरूरत की प्रतीक्षा में मुँह बाये खड़े रहते हैं। अतिथिगण आते जाते रहते हैं किन्तु ये सब हरदम जगह छेके ही रहते हैं।

यहाँ कमरे की फर्श पर लोग बैठते हैं, इस कारण उनके चले जाने पर कमरे का आकाश खुला ही रहता है, वे उसके सामने कोई बाधा नहीं छोड़ जाते, कमरे के एक छोर में कोई चटाई नहीं है, वहाँ पालिशदार एक काष्ठखण्ड चमक-दमक रहा है, उसके पास की दीवाल पर एक चित्र टँगा हुआ है और उस चित्र के सामने उस तख्ते पर एक गुलदस्ते में फूल सजाये हुये हैं। जिस चित्र की बात कही गयी है, वह आडम्बर के लिए नहीं है, वह है देखने के लिए। इसीलिए उसके साथ किसी का शरीर सटने न पावे, उसके सामने यथेष्ट परिमाण में निर्विघ्न अवकाश रहे, इसकी व्यवस्था वहाँ रहती है। इसीसे यह बात समझ में आती है कि ये लोग सुन्दर वस्तु की कितनी श्रद्धा करते हैं। फूलों [illegible] भी इसी प्रकार होता है। अन्य देशों में हम देखते हैं कि फूलों को [illegible] को एक गुच्छे में बाँध देते हैं—ठीक [illegible] तरह [illegible] के [illegible] को [illegible] दिया जाता है। किन्तु इस देश में फूलों पर ऐसा अत्याचार होते [illegible]

नहीं है। उनके लिए यहाँ थर्डक्लास की गाड़ी नहीं रहती, उनके लिए रिजर्व किया हुआ सैलून रहता है। फूलों के साथ व्यवहार करने में ये लोग न तो ठेलाठेली करते हैं और न तो रगड़ना मसलना करते हैं।

और खेला में जब उठकर खिड़की के पास आसन लेकर बैठ गया, तब मैं समझ गया कि जापानी लोग केवल शिल्प कला में ही उस्ताद नहीं हैं, वरन् इन लोगों ने मनुष्य की जीवन यात्रा को एक कला विद्या की तरह आयत्त कर लिया है। ये लोग इतना ही जानते हैं कि, जिस चीज का मूल्य है, गौरव है, उसके लिए यथेष्ट स्थान छोड़ देना चाहिए। पूर्णता के लिए रिक्तता सबसे अधिक जरूरी चीज है। वस्तुओं की अधिकता जीवन के विकाश में प्रधान बाधा है। इन सब मकानों में कहीं भी किसी कोने में भी, जरा भी अनादर नहीं है, अनावश्यकता नहीं है। झूठमूठ ही कोई चीज आँखों को आघात नहीं पहुँचाती, फजूल की कोई आवाज कानों को परेशान नहीं करती। मनुष्य का मन अपने को जिस हद तक फैलाना चाहता है उतना फैला सकता है, पगपग पर चीज सामान से ठोकरें नहीं खाता रहता।

जहाँ चारों तरफ इधर-उधर बहुत सी चीजें बिखरी पड़ी हुई हैं, फैली हुई हैं, अनेक प्रकार के जंजाल हैं, तरह तरह के शब्द सुनाई पड़ रहे हैं, वहाँ प्रतिक्षण ही हमारे जीवन की और मन की शक्ति का क्षय होता रहता है, इस बात को हम अपने अभ्यास में डूबे रहने के ही कारण समझ नहीं सकते। हमारे चारों तरफ जो कुछ रहता है वह सब ही हमारे प्राणों से 'मन से' कुछ न कुछ वसूल करता ही रहता है। [illegible] सब चीजें अनावश्यक हैं और असुन्दर हैं वे हमें कुछ भी नहीं देतीं, वे केवल हम लोगों से लेती ही रहती

हैं। इसी प्रकार दिन रात हमारा जो क्षय हो रहा है उससे हमारी शक्ति का कम अपव्यय नहीं होता।

उस दिन प्रातःकाल मुझे मालूम हुआ मानो मेरा मन एकदम लबालब भर उठा है। इतने दिनों से मैं जिस प्रकार मन की शक्ति को ढोता फिरता रहा, वह मानो चलनी में जल रखने के समान था। वह केवल गड़बड़ी विशृंखलता के छेदों के भीतर से बाहर निकल गया है और यह मानो घट की व्यवस्था है। अपने देश के क्रियाकर्मों की बातें याद पड़ीं। कैसा अपव्यय होता है! केवल चीज-सामान की ही गड़बड़ी नहीं रहती—मनुष्यों की चिल्लाहट-पुकार कैसी चलती है, कैसे गले तोड़ का परस्पर व्यवहार होता है! हमें अपने मकान की बातें याद पड़ गयीं। टेढ़ेमेढ़े ऊबड़-खाबड़ रास्तों के ऊपर से बैल गाड़ियों के चलने की तरह वहाँ की जीवन-यात्रा है। जितनी वे चलती हैं, उसकी अपेक्षा आवाज ही अधिक होती है। दरबान पुकार मचाता है, नौकर चाकरों के बच्चे-बच्चियाँ चीखती-बोलती हैं, मेहतरों के मुहल्ले में जोरदार झगड़ा शुरू हो जाता है, मारवाड़ी पड़ोसिनें चिल्लाहट भरे स्वर से लगातार गान गा रही हैं, इनका कोई अन्त ही नहीं है और घर के अन्दर तरह तरह की चीज सामग्री की अव्यवस्था रहती है—उनका बोझ क्या कोई कम रहता है! उस बोझ को क्या केवल कमरे की फर्श ढोती है! ऐसी बात नहीं है, प्रतिक्षण ही हमारा मन ढो रहा है। जो कुछ ठीक सजावट से रखा रहता है, उसका कम बोझ रहता है जो कुछ बिना सजावट के रखा रहता है उसका बोझ ज्यादा रहता है—यही है फर्क। जहाँ एक देश के सभी लोग [illegible] हैं और चीजों का व्यवहार करते हैं, व्यवस्था [illegible] करने में जिनकी बहुत आश्चर्यजनक लगती है, [illegible] किस रूप में [illegible] हुए

हैं, उनकी सामूहिक शक्ति किस परिमाण में जमा गयी है उसका क्या कोई हिसाब है।

ऐसी बात नहीं है कि, जापानी क्रोध नहीं करते, किन्तु सबके मुँह से एक स्वर से सुन चुका हूँ, ये लोग झगड़ा नहीं करते। इन लोगों के गाली-गलौज के कोष में केवल एक शब्द है—'बेवकूफ'। इसके ऊपर इनकी भाषा नहीं पहुँचती। खूब बिगाड़ क्रोध चरकपर हो जाता है, मनभेद, मनमुटाव बढ़ जाता है, किन्तु बगल के कमरे में उसकी जरा भी आवाज नहीं पहुँचती। यही है जापानी रीति। शोक-दुःख के सम्बन्ध में भी ऐसी ही स्तब्धता रहती है।

इन लोगों की जीवन-यात्रा में यह रिक्तता, विरलता, मिताचार यदि केवल अभावात्मक रहता तो उस हालत में उसकी प्रशंसा करने का कोई कारण नहीं रहता। किन्तु, यह तो देख रहा हूँ—ये लोग झगड़ा नहीं करते यह ठीक है, फिर भी आवश्यकता के समय प्राण देने या प्राण लेने में ये लोग कदम पीछे नहीं हटाते। भोज-सामग्री के व्यवहार में इनका संयम रहता है, किन्तु भोज-सामग्री के प्रति प्रचुरता रखने का भाव तो इनमें कम नहीं है। सभी विषयों में इनकी जैसी शक्ति रहती है, वैसी ही निपुणता रहती है, वैसा ही सौन्दर्यबोध रहता है।

इस सम्बन्ध में जब मैंने इनकी प्रशंसा की तो इनमें से बहुतों के ही मुँह से मुझे सुनने को मिला कि, 'हमने तुम लोगों से बौद्ध [illegible] में एक तरफ [illegible] और दूसरी तरफ [illegible] इस तरह के सामंजस्य की जो साधना है [illegible] ही [illegible] पथ का धर्म है।

[illegible] है। बौद्ध धर्म तो हमारे

देश में भी था, किन्तु हमारी जीवन-यात्रा को तो ऐसे आश्चर्य-जनक और सुन्दर सामंजस्य से वह बाँध न सका था। हमारी कल्पनाओं में, और कामों में ऐसा प्रभूत आतिशय्य, औदासीन्य और ऐसी उच्छृङ्खलता कहाँ से आ गयी।

एक दिन मैं जापानी नाच देख आया। मालूम हुआ, मानो यह देहभंगी का संगीत है। यह संगीत हमारे वीणा बजाने के अलाप की तरह है। अर्थात् पग-पग पर भंगि-वैचित्र्य के बीच पारस्परिक कोई व्यवधान नहीं है, अथवा कहीं भी जोड़ का चिह्न नहीं दिखाई पड़ता। समस्त देह पुष्पित-लता की तरह एक साथ हिलती हुई सौन्दर्य की पुष्प-वृष्टि कर रही है। विशुद्ध यूरोपीय नाच अर्धनारीश्वर की तरह होता है—आधा परिमाण में व्यायाम होता है, आधा नाच होता है। उसके बीच उछलना-कूदना चलता है, चक्कर लगाना होता है, आकाश पर लक्ष्य रखकर लात चलाना उछालना होता है। जापानी नाच बिलकुल ही परिपूर्ण नाच है। उसकी सज्जा के भीतर भी लेशमात्र नग्नता नहीं है। अन्य देश के नाचों में देह की सौन्दर्यलीला के साथ देह की लालसा मिली-जुली रहती है। यहाँ नाच की किसी भंगी में लालसा का इशारामात्र भी नहीं दिखाई पड़ा। मेरे विचार से इसका प्रधान कारण यही प्रतीत होता है कि, जापानी के मन में सौन्दर्य-प्रियता ऐसी सत्य वस्तु है कि, उसके भीतर किसी तरह का मिश्रण करने की उन्हें कोई जरूरत नहीं पड़ती। और ऐसा उनसे सहा भी नहीं जाता।

किन्तु इनके संगीत के सम्बन्ध में मेरे मन में यही धारणा उत्पन्न हुई कि यह बहुत दूर आगे नहीं बढ़ा है। स्वभावतः गीति और गान इन दोनों का अभी एक साथ नहीं हो पाता, अतः

शक्ति-स्रोत यदि इसके किसी एक रास्ते से अधिक गमनागमन करता है, तो उस हालत में दूसरे रास्ते में उसकी धारा अगंभीर हो जाती है। चित्र नामक पदार्थ है आवली का, और गान है गगन का। जहाँ असीम सीमायें है, वहाँ ही चित्र है। असीम जहाँ सीमाहीनता में है वहाँ है गान। रूपराज्य की कला है चित्र, अपरूप राज्य की कला है गान। कविता उभचर—दोनों में चलती है, चित्र में भी और गान में भी, क्योंकि कविता का उपकरण है भाषा। भाषा के एक तरफ है अर्थ, दूसरी तरफ है सुर। इस अर्थ के योग से चित्र तैयार होता है, सुर के योग से गान बनता है।

जापानियों ने रूप-राज्य का सब ही दखल कर लिया है। जो कुछ नेत्रों से दिखाई पड़ता है उसके किसी भी भाग पर जापानी आलस्य नहीं दिखाते, अनादर नहीं रखते। अपने इर्द गिर्द सर्वत्र ही उसने बिलकुल ही परिपूर्णता की साधना की है। अन्य देशों में गुणियों और रसिकों में ही रूप-रस का जो बोध दिखाई पड़ता है, वही इस देश की सम्पूर्ण जाति में फैल गया है। यूरोप में सार्वजनिक विद्याशिक्षा है, सार्वजनिक सैनिकता की चर्चा भी वहाँ अनेक स्थानों में प्रचलित है, किन्तु सार्वजनिक रसबोध की ऐसी साधना संसार में और कहीं भी नहीं है। यहाँ देश के सभी लोगों ने सुन्दर के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया है।

इससे क्या ये लोग विलासी हो गये हैं? निकम्मे हो गये हैं? जीवन की कठिन समस्या भेद करने में क्या ये लोग उदासीन या असमर्थ हो गये हैं? नहीं, ठीक इसकी उलटी बात है। इस सौन्दर्य-साधना से ही इन लोगों ने मिताचार सीखा है; इस सौन्दर्य-साधना से ही इन लोगों ने वीर्य और कार्यनिपुणता प्राप्त की है। हमारे देश में एक श्रेणी के मनुष्य हैं जो समझते हैं,

शायद शुष्कता ही पौरुष है, और कर्तव्य-पथ में चलने का सदुपाय है रस का उपवास—वे लोग जगत के आनन्द को हटा देने को ही जगत् का कल्याण करना समझते हैं।

यूरोप में जब मैं गया था, तो वहाँ के लोगों के खोले हुए कल-कारखाने, उनकी कर्मतत्परता, उनके ऐश्वर्य और प्रताप पर मेरी दृष्टि अच्छी तरह पड़ी है, जिससे मेरा मन अभिभूत हो गया है। फिर भी यह तो बाह्य रहा। किन्तु, जापान में आधुनिकतम का छद्मवेश भेद करके जो कुछ दिखाई पड़ता है वह है, मनुष्य के हृदय की सृष्टि। वह अहंकार नहीं है, वह आडम्बर नहीं है, वह पूजा है। प्रताप अपने को प्रचारित करता है, इस कारण जितना हो सकता है उतना ही वह वस्तुओं के आयतन को बढ़ा देता है, और समस्त को अपने सामने झुका देना चाहता है। किन्तु पूजा अपने से बड़े का प्रचार करती है। इसलिए उसका आयोजन सुन्दर और विशुद्ध होता है, केवल बहुत बड़ा और अनेक नहीं होता। जापान अपने घर-बाहर सर्वत्र ही सुन्दर के सामने अपना अर्घ्य चढ़ा रहा है। इस देश में आने के साथ ही सबसे बड़ी जो वाणी हमारे कानों में आ पहुँचती है वह है 'मुझे यह अच्छा लगा, मैंने इसे पसन्द किया।' यह बात देश भर के सभी लोगों के मन में जाग उठना सहज नहीं है, और सभी की वाणी में इसे प्रकट कर देना और भी कठिन है। यहाँ किन्तु प्रकाश हो गया है। प्रत्येक छोटी चीज में, छोटे व्यवहार में उस आनन्द का मुझे परिचय मिलता है। वह आनन्द भोग का आनन्द नहीं है, वह है पूजा का आनन्द। सुन्दर के प्रति ऐसा आन्तरिक सम्भ्रम और कहीं मैं नहीं देखता। किसी दूसरी जाति ने ऐसी सतर्कता से, ऐसे यत्न से, ऐसी पवित्रता की रक्षा करके, सौन्दर्य के साथ [illegible] करता नहीं

सीखा है । जो भी इनको अच्छा मालूम होता है, उसके सामने ये लोग शब्द नहीं करते । संयम ही प्रचुरता का परिचय है और स्तब्धता ही गम्भीरता को प्रकट करती है, इस बात को ये लोग अन्तर के भीतर से समझ गये हैं । और इन लोगों का कथन है कि, यह आन्तरिक बोधशक्ति हमें बौद्ध धर्म की साधना से मिली है । स्थिर होकर ये लोग शक्ति को निरुद्ध कर सके हैं, इसीलिए उस अक्षुण्ण शक्ति ने इनकी दृष्टि को विशुद्ध और बोध को उज्ज्वल बना दिया है ।

पहले ही कह चुका हूँ कि, प्रताप के परिचय से मन अभिभूत होता है । किन्तु यहाँ जिस पूजा का परिचय देखने को मिलता है, उससे मन, अभिनव का अपमान अनुभव नहीं करता । मन आनन्दित होता है, ईर्षालु नहीं होता । क्योंकि पूजा तो अपनी अपेक्षा जो बड़ा है उसी को प्रकाशित करता है, उस बड़े के सामने सभी आनन्दित मन से नत हो सकते हैं, मन कहीं भी नहीं हिचकता । दिल्ली के जिस स्थान में प्राचीन हिन्दू राजा की कीर्ति-कला के वक्षःस्थल [illegible] शल की तरह [illegible] मनुष्य के मन को पीड़ा देता है ; अथवा काशी के जिस स्थान में हिन्दू की पूजा को अपमानित करने के लिए औरंगजेब ने मसजिद की स्थापना की है, उसमें न तो हमें कोई श्री दिखाई पड़ती है और न तो किसी तरह का कल्याण ही दिखाई पड़ता है [illegible] महल के सामने जाकर [illegible] नहीं [illegible] यह [illegible] की [illegible] करते हैं ।

[illegible] वह अहंकार का प्रकाश नहीं

है। इस कारण यह प्रकाश मनुष्य को आह्वान करता है, आघात नहीं करता।

इस कारण जापान में जहाँ हम इस भाव का विरोध देखते हैं, वहाँ अपने मन में हम विशेष पीड़ा अनुभव करते हैं। चीन के साथ नौयुद्ध में जापान को विजय मिली थी—उस विजय के चिह्नों को काँटे की तरह देश के चारों तरफ गाड़ रखना बर्बरता है, वह अशोभनीय है, यह बात समझना जापान के लिए उचित था। आवश्यकता के कारण मनुष्य को अनेक क्रूर कर्म करने पड़ते हैं, किन्तु उनको भूल जाना ही मनुष्यत्व है। मनुष्य के लिए जो चिरस्मरणीय है, जिसके लिए मनुष्य मन्दिर बनाता है, मठ बनाता है, वह तो हिंसा नहीं है।

हम लोगों ने अनेक यूरोपी[illegible]ओं को अपना लिया है, हमने यूरोप के बहुत से माल असबाबों को अपने उपयोग में लाना सीखा है। यह काम हमने केवल अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के ही उद्देश्य से नहीं किया है, बल्कि मनमें यह भाव स्वीकार किया है कि ये यूरोपीय हैं इसलिए इनको ग्रहण करना हमारा कर्तव्य है। यूरोप के सामने हमारे मन का जो इस तरह का पराभव हो गया है उसमें हम अभ्यस्त हो गये हैं और इसके लिए हम लज्जा अनुभव करना भी [illegible] गये हैं। यूरोप में जितनी विद्याएँ हैं उन सभी को ग्रहण करना हमारा कर्तव्य है इस बात को मैं मानता हूँ, किन्तु उनके जितने [illegible] हैं उन सभी को [illegible] चाहिए, इस बात को मैं नहीं मानता। तो भी, [illegible] कि [illegible] चाहिए। किन्तु [illegible] है [illegible]

में एक बात ऐसी है जो मेरी समझ में नहीं आती। मैं यह देख रहा हूँ कि, इन लोगों ने यूरोप की, तरह-तरह की अनावश्यक, तरह-तरह की भद्दी बातों की भी नकल कर ली है। किन्तु उनको क्या जापान की कोई भी चीज नहीं दिखाई पड़ती। ये लोग यहाँ रहकर जिन विद्याओं को सीखते हैं, वे भी यूरोप की विद्याएँ हैं, और जिनके पास कुछ भी आर्थिक या अन्य प्रकार की सुविधा है, किसी तरह यहाँ से अमेरिका की दौड़ लगाना चाहते हैं। किन्तु जो सब विद्याएँ और आचार-विचार या असबाब-सामान जापान के खास अपने हैं, पूर्ण रूप से अपने हैं उनमें से क्या कुछ भी ग्रहण योग्य नहीं दिखाई पड़ता? मैं खुद अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि, अपनी जीवन-यात्रा के लिए उपयोगी चीजें यहाँ से हम जिस परिमाण में ले सकते हैं, उस परिमाण में यूरोप से नहीं ले सकते। इसके सिवा, यदि जीवन-यात्रा की रीति-नीति, हम संकोच छोड़कर जापान से सीख लें तो उस हालत में हमारे घर-द्वार, हमारे आचार-व्यवहार पवित्र होते, सुन्दर होते, संयत होते। जापान को भारतवर्ष से जो कुछ मिला है, उससे वह आज भारत-[illegible]; किन्तु दुःख की बात यह है कि उस लज्जा को अनुभव करने की शक्ति हममें नहीं है। हम जितनी लज्जा पाते हैं सब ही यूरोप के सामने पाते हैं। इसलिए यूरोप के फटे-पुराने कपड़े बटोर-बटोर कर पेबन्द लगाकर हम अद्भुत आवरण तैयार करते हैं और लज्जा बचाना चाहते हैं। इधर [illegible] कि, जापान हमें एशियावासी कहकर अवज्ञा करता है। फिर भी हम भी जापान की ऐसी ही अवज्ञा करते हैं कि, उसका आतिथ्य ग्रहण करके भी हम यथार्थ जापान को अपनी आँखों से भी नहीं देखते। हम जापान के भीतर

से केवल निकृष्ट यूरोप को ही देखते हैं, यदि हम जापान को देख सकते, तो उसके फलस्वरूप हमारे घरों से अनेक कुरूपता, अपवित्रता, अव्यवस्था आज दूर चली जाती।

बंग देश में आज शिल्पकला का नवीन अभ्युदय हुआ है। उन शिल्पियों को मैं जापान में आह्वान कर रहा हूँ। नकल करने के लिए नहीं, शिक्षा पाने के लिए। शिल्प नामक चीज कितनी बड़ी है, समस्त जाति के लिए वह कितनी बड़ी सम्पदा है, केवल मात्र शौकीनी को वह किस हद तक पार कर गयी है—उसमें ज्ञानी के ज्ञान ने, भक्त की भक्ति ने, रसिक के रस-बोध ने, कितनी गम्भीर श्रद्धा के साथ अपने को व्यक्त करने की चेष्टा की है, यह बात यहाँ आ जाने पर ही स्पष्ट समझ में आती है।

टोकियो में मैं अपने जिस शिल्पी मित्र के यहाँ ठहरा था, उनका नाम है टाइक्वान। [illegible] सरलता बच्चों की तरह है, [illegible] रहती है। उनके चेहरे पर प्रसन्नता छायी रहती है, उनका हृदय उदार है, उनका स्वभाव मधुर है। जितने दिन घर में रहा, मैं [illegible] कितने बड़े शिल्पी हैं।

[illegible] और रसज्ञ [illegible] नन्दन वन की तरह है और वे भी [illegible] स्थान के योग्य व्यक्ति हैं। उनका नाम है [illegible] जापान के [illegible] शिल्पी हैं। [illegible] आधुनिक यूरोप की नकल नहीं करते, [illegible] दोनों में जापान के [illegible] के [illegible]

पहली बार मैंने टाइकान का चित्र देखा, तो मुझे आश्चर्य हुआ। उसमें अत्यधिक कुछ भी नहीं है। और शौकीनी भी नहीं है। उसमें जिस तरह एक जोर मौजूद है उसी तरह संयम भी है। विषय इस प्रकार है—चीन के प्राचीन काल का कवि अपने भावों में निमग्न होकर चला जा रहा है। उसके पीछे-पीछे एक बालक बड़े यत्न के साथ एक वीणा ढोता हुआ जा रहा है। उस वीणा में तार नहीं है। उसके पीछे एक टेढ़ा 'उइलो' वृक्ष है। जापान में तीन भाग वाले जिस खड़े पर्दे का प्रचलन है उसी रेशमी पर्दे पर यह अंकित है। पर्दा बहुत बड़ा है और चित्र भी बड़ा है। प्रत्येक रेखा प्राण-पूर्ण है। इसके भीतर छोटी सी या बहुत बड़ी कोई चीज नहीं है। यह जितना उदार है उतना ही आयासहीन है। निपुणता की बात बिलकुल ही ध्यान में नहीं आती। तरह-तरह के रंगों में तरह-तरह की रेखाओं का समावेश नहीं है। देखने के साथ ही मन में यही विचार उठता है कि, यह खूब बड़ा है और खूब सत्य है। इसके बाद मैंने उनका भूदृश्य चित्र देखा। एक चित्र है—पट के ऊर्ध्व प्रान्त पर एक पूर्ण चाँद है, बीच में एक नौका है, निचले भाग में देवदारु वृक्ष की दो डालियाँ दिखाई पड़ रही हैं। और कुछ भी नहीं है। जल की कोई रेखा तक नहीं है। ज्योत्स्ना के प्रकाश में स्थिर जल में केवल शुभ्रता फैली हुई है—यह जल है, इसको हम केवल उन दोनों नौकाओं के रहने से ही समझ रहे हैं। और इस सर्वव्यापी विकल ज्योत्स्ना को प्रकट करने के लिये जो कुछ भी कालिमा है वह केवल उन दोनों पावन वृक्षों की डालियों में है। उस्ताद ने एक ऐसी चीज को अंकित करना चाहा है, जिसका रूप नहीं है, जो वृहत् और निस्तब्ध है—यही [illegible] है—उसकी स्तब्धता अतलस्पर्शी है। [illegible]

पूर्वक देने लगूँ तो उस हालत में मेरा कागज भी खतम हो जायगा, समय भी न मिलेगा। सबके अन्त में हारासन मुझे एक लम्बी संकीर्ण कोठरी में ले गये। उसकी एक तरफ दीवाल पर एक पर्दा टँगा हुआ है। इस पर्दे पर शिरोमुरा का अंकित एक बहुत बड़ा चित्र है। शीत के बाद प्रथम वसन्त आ गया है, प्लाम वृक्ष की डालियों पर एक भी पत्ती नहीं है, सफेद-सफेद फूल खिले हुए हैं, फूलों की पंखुड़ियाँ झरती हुई गिर रही हैं। बृहत् पर्दे के एक छोर पर दिगन्त के सन्निकट रक्तवर्ण सूर्य दिखाई पड़ रहा है, पर्दे के दूसरे छोरपर प्लाम वृक्ष की रिक्त डाल की ओट में एक अन्ध व्यक्ति दिखाई पड़ रहा है जो हाथ जोड़कर सूर्य की वन्दना में निरत है। एक अन्ध व्यक्ति, एक वृक्ष, एक सूर्य, और सुनहरे रंग से पूर्ण एक सुवृहत् आकाश---ऐसा चित्र मैंने पहले कभी नहीं देखा था। उप-निषद् की वह प्रार्थनावाणी मानो रूप धारण करके मेरे सम्मुख प्रकट हो गयी—

तमसो मा ज्योतिर्गमय।

केवल अन्ध व्यक्ति की नहीं, अन्धी प्रकृति की यह प्रार्थना "तमसो मा ज्योतिर्गमय" उस प्लाम वृक्ष की [illegible] प्रशाखाओं के भीतर से, ज्योतिर्लोक की तरफ [illegible] रही है। फिर भी प्रकाश [illegible] ओर [illegible] अन्ध व्यक्ति की यह प्रार्थना है।

कल शिरोमुरा का [illegible] और [illegible] देखने को मिला। [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

तो बहुत ही समारोह के साथ आ रही है, कोई आड़ में, ओट में ठहर कर झाँक कर रहा है, किन्तु तो भी ये सभी लोग बाहर ही हैं। कमरे के भीतर उसके सामने उसका बड़ा शत्रु बैठा हुआ है। उसकी मूर्ति ठीक बुद्ध की तरह है। किन्तु गौर से देखने से ही मालूम हो जाता है कि वह यथार्थ बुद्ध नहीं है—उसकी देह स्थूल है, उसके चेहरे पर वक्र हँसी है। वह कपट आत्मवञ्चना, पवित्र रूप धारण करके इस साधक को वंचित कर रही है। यह है आध्यात्मिक आहमिका, वह शुचि और सुगम्भीर मुक्तस्वरूप बुद्ध का छद्म वेष धारण किये हुये है। इसको ही पहचानना कठिन है, यही है अन्तरतम रिपु, दूसरे जितने भी शक्त के रिपु हैं, वे सभी बाहर के हैं। यहाँ देवता को उपलक्ष बनाकर मनुष्य अपनी प्रकृति की पूजा कर रहा है।

हम लोग जिनके आश्रय में हैं, वह हारासान गुणी और गुणज्ञ हैं। वे रस से, हास्य से, उदारता से परिपूर्ण हैं। समुद्र के किनारे, पहाड़ के पास उनका यह परम सुन्दर बगीचा सर्वसाधारण के लिए सर्वक्षण खुला रहता है। जहाँ तहाँ विश्रामगृह बने हुए हैं। जिसको खुशी हो, यहाँ आकर चाय पी सकता है। एक कमरा खूब लम्बा है, वहाँ उन लोगों के लिए व्यवस्था है जो वनभोजन करना चाहते हैं। हारासान के स्वभाव में कृपणता भी नहीं है, आडम्बर भी नहीं है, फिर भी उनके चारों तरफ समारोह है। मूढ़ धनाभिमानों की तरह वे मूल्यवान चीजों को केवल संग्रह करके नहीं रखते। उनका मूल्य वे समझते हैं, उनका मूल्य वे देते हैं, और उनके सामने वे सम्भ्रम के साथ अपने-आप को झुकाना जानते हैं।

१५

एशिया में जापान ही एक ऐसा देश है जिसने अकस्मात् यह समझ लिया कि, जिस शक्ति के द्वारा यूरोप ने समस्त पृथ्वी पर विजय प्राप्त कर ली है, एकमात्र उसी शक्ति के द्वारा उसे हम परास्त कर सकते हैं। नहीं तो उसके चाकों के नीचे पड़ना ही होगा और एक बार पड़ जाने से फिर उठने का कोई उपाय ही न रह जायगा।

ज्योंही यह बात उसके मस्तिष्क में प्रवेश कर गयी, त्योंही उसने फिर एक क्षण भी विलम्ब नहीं किया। अल्प ही वर्षों के बीच यूरोप की शक्ति को उसने आत्मसात् कर लिया। यूरोप की तोपें, बन्दूकें, परेड, कसरत, कल-कारखाने, आफिस-अदालतें आईन-कानून मानो अलादीन के दीपक के जादू से पश्चिमीय लोक से उखाड़ लाये गये और पूर्वी लोक में लगा दिये गये। नूतन शिक्षा को धीरे-धीरे सहन करके अपनाया नहीं गया, उसे बढ़ाया नहीं गया, जिस तरह बच्चे को पाल-पोसकर युवक बनाया जाता है उस तरह यह काम नहीं हुआ। उसको दामाद की तरह पूर्ण युवावस्था में आदर-सम्मान के साथ घर में ले आने की तरह यह काम सम्पन्न हो गया।

वृक्ष वनस्पति को एक जगह से उखाड़कर फिर दूसरी जगह उसे रोप देने की विद्या जापान के मालियों को मालूम है। इसी प्रकार यूरोप की शिक्षा-पद्धति को भी उन लोगों ने उसी [illegible] जड़ और [illegible] के साथ अपने देश की मिट्टी में रातों-रात में [illegible] कर लिया। केवल उसकी पत्तियाँ ही [illegible] ऐसी बात नहीं है, [illegible] उसमें [illegible] लगने लगे।

आरम्भ में कई दिन उन लोगों ने यूरोप से शिक्षकों का दल भाड़े पर ला रखा था। फिर बहुत ही थोड़े दिनों में उनमें से प्रायः सभी को हटा दिया। फिर तो वे पतवार और डाँड़ सँभाल रखने के लिए खुद ही बैठ गये हैं—केवल पाल को इस तरह खड़ा करके रख छोड़ा है, जिससे पश्चिमीय देश की हवा उसके ऊपर पूर्ण रूप से लग सके।

इतिहास में इतनी बड़ी आश्चर्यजनक घटना पहले कभी नहीं हुई थी, क्योंकि, इतिहास तो धार्मिक नाटकमण्डली का गीत गाना नहीं है, कि सोलह वर्ष के छोकड़े को पकी हुई मूँछ-दाढ़ी पहना देने से ही उसी क्षण उसको नारद मुनि बना दिया जा सकेगा। केवल योरप के हथियार उधार लेने से ही यदि यूरोप बन जाना सम्भव होता, तो उस स्थिति में अफगानिस्तान के लिए भी कोई चिन्ता की बात नहीं थी। किन्तु यूरोप के साज सामानों को ठीक तरीके से व्यवहार में लाने योग्य मनोवृत्ति जापान ने एक ही पल में कैसे गढ़ डाली, यह समझना कठिन है।

इस कारण, यह बात मान ही लेनी पड़ेगी कि, इस बात को उसे शुरू से बनाने की जरूरत नहीं पड़ी, वह उसके यहाँ एक तरह से तैयार ही थी। इसलिए ज्यों ही उसे चैतन्य प्राप्त हुआ, त्योंही उसे तैयार हो जाने में देर नहीं हुई। उसके सम्मुख जो भी बाधाएँ थीं, वह बाहरी थीं, अर्थात् किसी नयी चीज को समझ-बूझकर आयत्त कर लेने में जितनी बाधाओं का सामना करना पड़ता है, केवल उतनी ही बाधाएँ उसके सामने थीं, उसके अपने हृदय में किसी विरोध की बाधा न थी।

[illegible]

एक ऐसा ऐकान्तिक भेद है ऐसी बात मैं नहीं कहना चाहता। स्थावर को भी दायित्व में पड़कर चलना है, जङ्गम को भी दायित्व में खड़ा हो जाना पड़ता है। किन्तु स्थावर का लय विलम्बित है, और जङ्गम का लय द्रुत है।

जापान का मन ही स्वभावतः जङ्गम था। उसका चलना मन्थर क्रान्ति में नहीं था। इसीलिये वह एक ही दौड़ में दो-तीन सौ वर्ष बहुत तेज गति से चलकर आगे निकल गया। हम लोगों की तरह दुर्भाग्य का बोझ लेकर हजार वर्षों तक रास्ते के किनारे पड़े जो लोग समय बिता रहे हैं, वे अभिमानवश कहते हैं—'वे लोग बहुत ही हलके हैं' हम लोगों में यह ठीक है और गम्भीरता है, वैसी गम्भीरता उनमें रहती तो वे इस तरह गन्दे तरीके से दौड़-धूप करने में समर्थ नहीं होते। सच्ची चीज कभी इतनी शीघ्रता से गढ़ी नहीं जा सकती।'

हम लोग अपनी रुचि से जो भी क्यों न कहें, आँखों के सामने देख रहा हूँ कि, एशिया के इस देश में रहने वाली जाति यूरोपीय सभ्यता की सभी जटिल व्यवस्थाओं को सम्पूर्ण जोर के साथ व्यवहार कर सकी है। इसका एक मात्र कारण यह है कि, इन लोगों ने केवल [illegible] को ही ग्रहण किया है, ऐसी बात नहीं है, साथ ही [illegible] पा गये हैं : [illegible]
[illegible] शुरू हो जाता, [illegible]
[illegible]
[illegible]।

[illegible]

जापानियों में एक प्रवाद प्रचलित है कि वे लोग मिश्र जाति के हैं। वे एक दम खास मंगोलीय नहीं हैं। यहाँ तक कि, उनका यह विश्वास है कि उनके साथ आर्यरक्त का भी मिश्रण हो गया है। जापानियों में मंगोलीय और भारतीय इन दोनों साँचे का चेहरा मुझे दिखाई पड़ा है, और उनमें वर्ण की विचित्रता भी यथेष्ट है। मेरे चित्रकार मित्र टाइक्वान को यदि बंगाली पोशाक पहना दिया जाय तो उनको जापानी समझने में सन्देह उत्पन्न हो जायगा। ऐसे और भी अनेक मनुष्य मैंने देखे हैं।

जिस जाति में वर्ण-शंकरता बहुत अधिक परिमाण में पहुँच गयी है [illegible] हल जाता। प्रकृति वैचित्र्य के संघात में उसका मन चलनशील हो जाता है। यह बात बताने की जरूरत नहीं कि, इस चलनशीलता से मनुष्य अग्रसर हो सकता है।

यदि हमें कहीं रक्त की अविमिश्रता देखनी है तो हमें बर्बर जातियों में जाना पड़ेगा। ये लोग दूसरों से डरते रहे हैं, ये लोग अल्प स्थान लेकर अपने आश्रम में छिपे छिपे अपनी जाति को स्वतन्त्र रखते आये हैं। इसीलिए आदिम आस्ट्रेलियन जाति की आदिमता नष्ट नहीं हुई। अफ्रीका के मध्य देश में काल की [illegible] इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है।

किन्तु, ग्रीस पृथ्वी के एक ऐसे स्थान में था, [illegible] एक तरफ इजिप्ट, एक तरफ यूरोप का महादेश [illegible] रहा और उसे आलोड़ित [illegible]। ग्रीक लोग अविमिश्रत जाति के नहीं थे, रोमन [illegible]। भारतवर्ष में अनार्य आर्य में जो मिश्रण हुआ था, उस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है।

जापानी को भी देखने से मालूम होता है कि, वे लोग एक ही

प्रकृति के मनुष्य नहीं हैं। संसार में अधिकांश जातियां ही ऐसी हैं, जो मूठमूठ ही अपने रक्त की अविमिश्रता को लेकर गर्व करती हैं। किन्तु जापानी के मन में ऐसा अभिमान जरा भी नहीं है। जापानियों के साथ भारतीय जाति का मिश्रण हुआ है, इस बात की आलोचना उन अखबारों में मैं पढ़ चुका हूँ, और उसको लेकर कोई पाठक जरा भी विचलित नहीं होता। केवल यही नहीं, चित्र-कला आदि बहुत सी बातों में जापान भारतवर्ष का ऋणी है, इसे हम लोग एकदम भूल ही गये हैं, किन्तु जापानी इस ऋण को स्वीकार करने में जरा भी कुंठित नहीं होते।

वस्तुतः ऋण को वे ही लोग छिपा रखने की चेष्टा करते हैं, [illegible] ही रह गया है। भारतवर्ष से [illegible] सम्पत्ति में परिणत हो गया है। जिस जाति के मन में चलन-धर्म प्रबल है वही जाति पर-सम्पद को अपनी सम्पद बना सकती है। जिसका मन स्थावर बाहर की चीज है उसके लिए वह विषम भार हो उठता है, क्योंकि उसका अपना अचल-अस्तित्व ही उसके लिए एक बहुत बड़ा बोझ है।

केवल जाति शंकरता ही नहीं, जापान के लिए [illegible] भी एक बहुत बड़ी [illegible] है। [illegible] जगह है, उसने [illegible] के [illegible] किया है। विचित्र उपकरण अच्छी तरह पिघलकर परस्पर मिल गये हैं और बहुत ही निबिड़ हो गए हैं। चीन अथवा भारतवर्ष की तरह विस्तृत जगह में वैचित्र्य केवल विभक्त हो उठने की चेष्टा करता है, [illegible] होना नहीं चाहता।

[illegible]

संकीर्ण स्थान में सम्मिलित होकर विस्तृत स्थान पर अधिकार करने में समर्थ हुए। वर्तमान युग में एशिया में जापान को बड़ी सुविधा प्राप्त है। एक तरफ उसकी मानस प्रकृति में चिरकाल ही चलन कर्म रहता है। जिसके कारण चीन, कोरिया आदि पड़ोसियों से, जापान उनकी सभ्यता के सभी उपकरणों को आत्मसात् कर सका है और दूसरी तरफ थोड़ी सी जगह में समस्त जाति एक भावना से, एक प्राण से अनुप्राणित हो सकी है। इसीलिए जिस क्षण ही जापान के मस्तिष्क में इस चिन्ता ने स्थान प्राप्त कर लिया कि, आत्मरक्षा के लिए उसे यूरोप से दीक्षा ग्रहण करनी पड़ेगी, उसी क्षण जापान के समस्त शरीर में अनुकूल चेष्टा जाग्रत हो उठी।

यूरोप की सभ्यता एकान्त भाव से जंगम बल की सभ्यता है, वह स्थावर मन की सभ्यता नहीं है। वह सभ्यता क्रमागत रूप से नूतन चिन्ता, नवीन चेष्टा, नवीन परीक्षा के बीच से विप्लव तरंगों की चूड़ा चूड़ा के ऊपर से पंखों को फैलाकर उड़ती चली जा रही है। एशिया में एकमात्र जापान ही ऐसा देश है, जिसके मन में यह स्वाभाविक चलन-धर्म विद्यमान है, इसी कारण जापान सहज में ही यूरोप की तेज गति के साथ मिलकर चलने में समर्थ हुआ है, और अपने इस कार्य से उसे प्रलय का आघात सहना नहीं पड़ा है। क्योंकि, वह जो कुछ भी उपकरण पा रहा है, उसकी वह सृष्टि कर रहा है। इस कारण अपने उन्नतिशील जीवन के साथ इन सभी को वह मिला लेने में समर्थ हो गया है। इन सब नूतन चीजों को इसके [illegible]

[illegible]

रही है। शुरू २ में [illegible]

प्रकट होते हैं, वे ही [illegible]

है। एक दिन जिन अनावश्यक बातों को उसने ग्रहण किया है, फिर दूसरे समय उसने उसे त्याग दिया है। एक दिन अपनी जिन चीजों को वह दूसरों के बाजार में खो चुका था, फिर दूसरे समय उन्हें पुनः प्राप्त कर लिया। इसी तरह का संशोधन क्रिया निरन्तर उसके यहाँ चल रही है। जो विकृति मृत्यु की ओर ले जाती है, उससे ही भयभीत होना पड़ता है। जो विकृति जीवनी शक्ति के लीला-वैचित्र्य से हठात कभी कभी सामने आ जाती है, उसको प्राण आप ही संभाल लेता है और अपने ठीक स्थान पर आकर खड़ा होने में समर्थ हो जाता है।

मैं जिस समय जापान में था, तब एक बात मेरे विचारों से बारम्बार जागरूक होती रही। मुझे यह अनुभव हो रहा था मानो जापानी जाति का, भारतीय बंगाली जाति से एक स्थान में समता है। हमारे इस प्रकृत [illegible] बंगालियों [illegible] को ग्रहण किया और अब भी [illegible]

[illegible]

[illegible]

बन्धनमुक्त है, और नवीन शिक्षा को ग्रहण करना बंगालियों के लिए जितना सहज हो गया था, उतना सहज भारत के किसी अन्य प्रदेशवासियों के लिए नहीं हुआ था। यूरोपीय सभ्यता की पूर्ण दीक्षा जापानियों की तरह हमारे लिए निर्विघ्न नहीं है। दूसरे के कृपण हाथ से हमें जो कुछ मिल जाता है, उससे अधिक हम लोगों के लिए दुर्लभ है। किन्तु यदि यूरोपीय शिक्षा हमारे देश में पूर्णतः सुगम होती, तो उस हालत में बंगाली उसे पूर्ण रूपसे अपने अधिकार में कर सकता, इस विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता। आज विविध कारणों से विद्या शिक्षा हमारे लिए लगातार दुर्मूल्य होती जा रही है, तो भी विश्वविद्यालयों के संकीर्ण द्वारों पर बंगाली लड़के प्रतिदिन माथा पटक-पटक कर मर रहे हैं। वस्तुतः भारत के अन्य प्रदेशों की अपेक्षा बंग देश में जो एक असन्तोष का लक्षण अत्यन्त प्रबल रूप में दिखाई पड़ता है, उसका एकमात्र कारण यह है कि, हमारी गति प्रतिहत है। जो कुछ भी अंग्रेजी भावना से परिपूर्ण है, उसकी तरफ बंगालियों का उद्बोधित चित्त अतिशय प्रबल वेग से दौड़ चला था, अंग्रेजों के अत्यन्त समीप पहुँचने के निमित्त हम लोग तैयार हो गये थे—इस सम्बन्ध में संस्कारमूलक जितनी ही बाधाएँ हैं, उनको लांघ जाने के लिए बंगाली ही सबसे पहले तैयार हो गये थे। किन्तु, इसी जगह जबकि अंग्रेजों से ही उसे बाधा मिलने लगी, तब बंगालियों के मन में प्रचण्ड अभिमान जाग उठा, वह था उसके अनुराग का ही विकार। यही अभिमान आज नवयुग की शिक्षा ग्रहण करने के पक्ष में बंगालियों के मन को सर्वापेक्षा अधिक बाधा पहुँचा रही है। आज [illegible] कूट तर्कों और मिथ्या युक्तियों के द्वारा परिश्रम के अभाव को सम्पूर्ण [illegible] चेष्टा कर

रहे हैं, वह हम लोगों की स्वाभाविक चेष्टा नहीं है। इसी कारण वह ऐसी सुतीक्ष्ण है। इसने व्याधि के प्रकोप की तरह पीड़ा पहुँचाकर हम लोगों को सचेतन कर डाला है।

बंगालियों के मन में जो ऐसा प्रबल विरोध है उसमें भी उसका चलन-धर्म ही प्रकट होता है। किन्तु विरोध से कभी कुछ सृष्टि नहीं कर सकता। विरोध से दृष्टि कलुषित होती है और शक्ति विक्षिप्त हो जाती है। हमारे मन में [illegible]। क्यों न रहे, यह बात भूल जाने से हमारा काम न चलेगा कि, पूर्व और पश्चिम के मिलन के सिंहद्वार को उद्घाटित करने का भार बंगालियों के ही ऊपर आ पड़ा है। इसीलिए बंगाल के नवयुग के प्रथम पथप्रवर्तक हुए राममोहन राय। पश्चिम को पूर्ण रूप से ग्रहण करने में उन्होंने भीरुता नहीं दिखायी, क्योंकि पूर्व के प्रति उनकी श्रद्धा अटल थी। उन्होंने जिस पश्चिम को देखा था वह तो शस्त्रधारी पश्चिम नहीं था। वह था ज्ञान से, प्राण से, उद्भासित पश्चिम।

जापान ने यूरोप से कर्म की दीक्षा और अस्त्र की दीक्षा ग्रहण की है। उससे वह विज्ञान की शिक्षा भी प्राप्त कर रहा है। किन्तु, मैंने जहाँ तक देखा है, उससे मुझे मालूम होता है कि, यूरोप के साथ जापान के एक अन्तरतर स्थान में [illegible] मौजूद है। जिस गूढ़ भित्ति के ऊपर यूरोप का [illegible] प्रतिष्ठित है, वह है आध्यात्मिक। वह केवल उसकी [illegible] नहीं है, वह है उसका नैतिक आदर्श। इसी जगह जापान के साथ यूरोप का [illegible] भेद है। मनुष्यत्व [illegible] आदर्श है, और उसकी तरफ [illegible] रहती है। [illegible] केवल सामाजिक व्यवस्था का अंग नहीं है, [illegible] आध्यात्मिक [illegible]

स्वजातिगत स्वार्थ को भी अतिक्रम करके अपने लक्ष्य की स्थापना कर दी है, उस साधना के क्षेत्र में भारत के साथ यूरोप का मेल जितना सहज है, जापान के साथ उसका मेल उतना सहज नहीं है। जापानी सभ्यता एक महलवाला है—वहीं है उसकी समस्त शक्ति और दक्षता का निकेतन। वहाँ के भण्डार में सबसे बड़ी जो चीज संचित होती है वह है कार्यकर्मता। वहाँ के मन्दिर का सबसे बड़ा देवता है स्वादेशिक स्वार्थ। इसी कारण जापान समस्त यूरोप में सहज ही में आधुनिक जर्मनी के शक्ति उपासक नवीन दार्शनिकों से अंश ग्रहण कर सका है। नीट्शे का ग्रंथ उनके लिए सबसे अधिक समादृत ग्रन्थ है। इसीलिए आज तक जापान अच्छी तरह निश्चय ही नहीं कर सका है कि, किसी धर्म की उसे आवश्यकता है या नहीं, और धर्म है क्या। कुछ दिनों उसका ऐसा भी संकल्प था कि वह ईसाई धर्म ग्रहण करेगा। उस समय उसका विश्वास था कि, यूरोप ने जिस धर्म का आश्रय ग्रहण किया है, उसी धर्म ने शायद उसको शक्ति प्रदान की है, इसलिए तोप-बन्दूकों के साथ-साथ ही ईसाइयों को भी संग्रह करने की आवश्यकता होगी। किन्तु आधुनिक यूरोप में शक्ति उपासना के साथ-साथ कुछ दिनों से यह बात प्रचारित हो गयी है कि, ईसाई धर्म स्वभावतः दुर्बल का धर्म है, वह वीरों का धर्म नहीं है। यूरोप ने यह कहना शुरू कर दिया था कि, जो मनुष्य क्षीण है उसका ही स्वार्थ नम्रता, क्षमा और त्याग धर्म का प्रचार करता है। संसार में जो लोग पराजित हैं, उस धर्म में उनकी ही सुविधा है। संसार में जो लोग विजयशील हैं, उस धर्म में उनको बाधा है। यह बात जापान ने [illegible] पा गयी है। इसीलिए जापान की [illegible] धर्म बुद्धि की अवज्ञा कर रही है। यह

अपना दूसरे किसी देश में चल नहीं सकती थी। किन्तु जापान में यह चल रही है, इसका कारण यह है कि, जापान में इस बोध का विकास नहीं था और उस बोध का अभाव रहने के ही कारण जापान आज गर्व का अनुभव कर रहा है। वह जानता है कि, परलोक के दावे से वह मुक्त है, इसी कारण इहकाल में वह विजयी होगा।

जापान के शासकगण जिस धर्म को विशेष रूप से प्रश्रय देते हैं, वह है शिन्तो धर्म। इसका कारण यह है कि, यह धर्म केवल संस्कारमूलक है, यह आध्यात्मिक मूलक नहीं है। यह धर्म राजा को और पूर्वपुरुषों को देवता के रूप में मानता है। इस कारण स्वदेशासक्ति को सुतीव्र रूप से उच्चतर बना देने के उपाय रूप में इस संस्कार का व्यवहार किया जा सकता है।

किन्तु, यूरोपीय सभ्यता, मंगोलीय सभ्यता की तरह एक मंड विशिष्ट नहीं है। उसका एक अन्तर-महल है। वह अनेक दिनों से ही 'किंगडम आफ हेवेन' को स्वीकार करती आयी है। वहाँ वही विजयी होता है, जो विनम्र है। जो पराया है, वही स्वजन की अपेक्षा अधिक हो जाता है। [illegible] नहीं, परमार्थ ही वहाँ चरम सम्पदा है। अनन्त के [illegible] अपना [illegible] प्राप्त करता है।

यूरोपीय सभ्यता के [illegible] अन्तर-महल का द्वार कभी-कभी बन्द हो जाया [illegible], [illegible] नहीं कहता। भले ही ऐसा हो, किन्तु [illegible] है। बाहर की [illegible] और [illegible] से इसकी दीवारें टूट नहीं सकतीं। [illegible] टिकी रहेंगी और इसी जगह [illegible] की सभी [illegible] का समाधान हो जायगा।

हम लोगों के साथ यूरोप का यदि और किसी स्थान में मेल न हो, तो इस बड़े स्थान में मेल है। हम अन्तरतर मनुष्य को मानते हैं—उसको बाहर के मनुष्य की अपेक्षा अधिक मानते हैं। जो जन्म मनुष्य का द्वितीय जन्म है, उसके लिए हम वेदना अनुभव करते हैं। इसी जगह मनुष्य के इस अन्तर महल में यूरोप के साथ हमारे यातायात का एक पदचिह्न मुझे दिखाई पड़ता है। इस अन्तर-महल में मनुष्य का जो मिलन होता है, वही मिलन ही सत्य मिलन है। इस मिलन का द्वार उद्घाटन करने के काम में बंगालियों का आह्वान है, इसके अनेक चिह्न अनेक दिनों से ही दिखाई पड़ रहे हैं।